।। ओ३म् ।।

आदित्यप्रकाश

(षष्ठकिरण)

लेखक एवं सम्पादक

इं० आदित्यमुनि वानप्रस्थ

मो० 09425605823

प्रकाशक

गङ्गा प्रकाशन मन्दिर

एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर

कोलार रोड, **भोपाल- ४६२०४२** (म०प्र०)

मो० 09425605823

कहाँ-क्या ?

संस्करण- प्रथम (श्रद्धानन्द बलिदान दिवस, २३ दिसम्बर, २०१० ई०)

मूल्य- १५/- पन्द्रह रुपये (डाक-व्यय सहित)

मुद्रक-दृष्टि आफसेट, इन्दिरा प्रेस परिसर, महाराणा प्रताप नगर, भोपाल-११



मौनं स्वीकृति-लक्षणम्

पं० वी० उपेन्द्रराव का ७२० पृष्ठीय ग्रन्थ **'यजुर्वेद का अन्तरङ्ग'** यद्यपि १९९७-९८ से ही लिखा हुआ रक्खा था, परन्तु इसे हमने अप्रैल, २००९ में किन परिस्थितियों में प्रकाशित किया, इसका उल्लेख इस ग्रन्थ के आरम्भ के अपने सम्पादकीय एवं प्रकाशकीय वक्तव्य में हमने कर ही दिया था। प्रकाशनोत्तर इसकी प्रतियाँ सर्वप्रथम हमने परोपकारिणी सभा, अजमेर और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली को १५ मई, २००९ को भेजीं, परन्तु आर्यसमाज की इन दोनों शिरोमणि सभाओं ने हमें इस पुस्तक की प्राप्ति-सूचना देना भी आवश्यक नहीं समझा, उसको पढ़कर उस पर अपनी कुछ प्रतिक्रिया व्यक्त करना तो बहुत बाद की बात थी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के कब्जाधारी प्रधान स्वामी अग्निवेश जी को भी हमने यह ग्रन्थ उनके जन्तर-मन्तर (नई दिल्ली) के कार्यालय के पते पर १७ अगस्त, २००९ को भेजा, परन्तु उनका भी वही हाल रहा जो उनकी सभा का रहा है।

आगे २९ मई को यह ग्रन्थ पं० अभयदेव शर्मा (अध्यक्ष, वेद संस्थान, नई दिल्ली) और स्वामी विवेकानन्द सरस्वती (गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ) को भेजा गया और प्रकाशनपूर्व बने उसके सभी ग्राहकों को ३० मई से लेकर ५ जून तक भेज दिया गया। प्रकाशनपूर्व बने इन १४० ग्राहकों में स्वामी अनन्त भारती (दिल्ली), स्वामी सोम्यानन्द सरस्वती (मथुरा), पं० अर्जुनदेव स्नातक (आगरा), प्रो० चन्द्रपकाश आर्य (करनाल), डॉ० जयदत्त उप्रेती (अल्मोड़ा) एवं डॉ० रामचन्द्र शास्त्री (दिल्ली) आदि आर्यसमाज के मुखर लेखक और विद्वान् सम्मिलित थे। ६ जून को हमने इसकी एक प्रति पं० सुधाकर चतुर्वेदी (बेंगळूरु) को भी भेज दी। २९ जून, २००९ तक यह पुस्तक पं० विजयपाल (**'वेदवाणी'** पत्रिका के सम्पादक), डॉ० रघुवीर वेदालङ्कार (नई दिल्ली), आचार्य वेदप्रकाश श्रोत्रिय (नई दिल्ली), ब्र० अग्निव्रत नैष्ठिक (भीनमाल), डॉ० ज्वलन्तकुमार शास्त्री (अमेठी), डॉ० वेदपाल (मेरठ), पं० उमाकान्त उपाध्याय (कोलकाता), डॉ० सोमदेव शास्त्री (मुम्बई), आचार्य नरेन्द्रभूषण (चेंगनूर) और आचार्य आनन्दप्रकाश (कामारेड्डी) आदि आर्यसमाज के शीर्षस्थ वैदिक विद्वानों को भी भेजी जा चुकी थी। आगे २७

जुलाई, २००९ को यह ग्रन्थ समीक्षार्थ हमने पं० राजवीर शास्त्री (सम्पादक, **'दयानन्द सन्देश'**) और डॉ० सुरेन्द्रकमार (सम्पादक, **'सुधारक'**) को भी भेज दिया। पं० विशुद्धानन्द मिश्र (बदायूँ) को ४ अगस्त को और प्रा० भद्रसेन (होश्यारपुर) को भी यह ग्रन्थ १३ अगस्त को भेज दिया गया। बाद में डॉ० महावीर मीमांसक (नई दिल्ली) को भी ५ दिसम्बर, २००९ को यह ग्रन्थ भेजा गया। अस्तु।

छः माह बाद अल्मोड़ा के डॉ० जयदत्त उप्रेती ने **'वेदवाणी'** मासिक पत्रिका के दिसम्बर, २००९ के अङ्क में वैदिक विद्वानों का आह्वान करते हुए एक लेख लिखा- **"चतुर्वेदविदों से वेद-विषयक शत साङ्केतिक-प्रश्न'** और **'यजुर्वेद का अन्तरङ्ग'** पुस्तक की अच्छी प्रकार समीक्षा करके उनका युक्तिप्रमाणपूर्वक प्रत्युत्तर अवश्य देना चाहिए, अथवा यदि सम्भव हो तो शास्त्रार्थ के विषय में भी विचार करना चाहिए, यही लेखक का विद्याधनी वरिष्ठ आर्य विद्वानों से निवेदन है।" लेकिन तब से अब तक एक वर्ष और हो गया, परन्तु उनके निवेदन पर भी कोई आर्यविद्वान् **'यजुर्वेद का अन्तरङ्ग'** ग्रन्थ की समीक्षा अथवा उसके निष्कर्षों का खण्डन करने हेतु सामने नहीं आया।

एक जन्मजात आर्यसमाजी होने और अपने ७३ वर्ष के जीवन के अध्ययन और अनुभव के आधार पर मैंने **'आदित्यप्रकाश** *(चतुर्थकिरण)***'** में यह पहले ही लिख दिया था-"हमें लगता है कि वैदिक विद्वान् हमारे द्वारा प्रकाशित पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों में व्यक्त की गई सच्चाई से पूर्णतया अवगत हो चुके हैं। इसीलिए अब तक वे अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण ही मौन हैं और आगे भी मौन ही रहना पसन्द करेंगे।"

इस प्रकार ऐसा पहली बार हुआ है कि जब सभी आर्यसमाजी विद्वानों को एक साथ साँप-सा सूँघ गया हो, जबकि उनका पिछला १३५ वर्षों का इतिहास बताता है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर उन्होंने आगे बढ़कर सदैव ही लोहा लिया है और अपने मान्यपक्ष को दृढतापूर्वक सिद्ध करने का यत्न किया है, परन्तु इस ग्रन्थ के विषय में वे ऐसा अभी तक भी नहीं कर पाए हैं।

इस ग्रन्थ में पं० उपेन्द्रराव ने यजुर्वेद के सभी १९७५ मन्त्रों का वैज्ञानिकढङ्ग से परीक्षण करके कुछ चौंकाने वाले निष्कर्ष निकाले हैं, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं-

"शास्त्रीय प्रमाणों से जो अवधारणाएँ बनी हैं, अथवा जो परम्परा से

प्राप्त हैं, उन्हें प्रत्यक्षपरीक्षा से प्राप्य-निष्कर्ष बाधित नहीं करते, भले ही ये उनसे विपरीत, चाहे हों; क्योंकि हमारी आलोचनात्मक-टिप्पणियों एवं निष्कर्षों मे, वर्तमान में विद्यमान-विसङ्गतियाँ दूर होकर, शास्त्रीय-अवधारणाओं की अपेक्षा के अनुरूप वेद/वेदों के योग्यस्वरूप का निर्धारण होगा। (पृ० xxvii) *मूल-अपौरुषेय-वेद तो अन्य ही था, जो उन्हें भी उपलब्ध नहीं था। जब शाखाकार-ऋषियों को भी मूल-अपौरुषेयवेद उपलब्ध नहीं था, तो आज हमारे पास वह कहाँ से आ जाता? (पृ० xl) *इससे यह बात स्पष्ट होती है कि अपौरुषेयवेद छोटा एवं विस्ताररहित होना चाहिए। विस्तार शाखा का लक्षण है, मूल-वेद का नहीं। (xli) *इससे यह सिद्ध होता है कि स्वयं ऋग्वेद भी किसी अज्ञातवेद का मोहताज है। (पृ० १०४) *अत: वास्तविक-अपौरुषेय वेदसंहिता अन्य ही होगी, जो सम्प्रति अज्ञात है? (पृ० ६४०) *वर्तमान-ऋग्वेदसंहिता अपूर्ण है। (पृ० ६४२) *स्पष्ट है कि याज्ञिक-उद्देश्य की पूर्ति हेतु यजुर्वेद के मन्त्रों का चयन एवं निर्माण हुआ। (पृ० २१) *वर्तमान चारों वेदसंहिताएँ मूल न होकर याज्ञिकोंद्वारा पाठमात्र करने हेतु निर्मित-संहिताएँ हैं। *वेद की सभी संहिताएँ शाखा-संहिताएँ हैं। (पृ० ६४२) *चारों वेदसंहिताएँ पृथक्-पृथक् समय मे निर्मित हुईं। (पृ० ६४२) *चारों वेद एक साथ प्रादुभूत नहीं हुए। (पृ० ६४८) *(इससे) यज्ञार्थ यजुर्वेदसंहिता का निर्माण सिद्ध है। (पृ० ६४५) *(अत:) यजुर्वेद का याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी-भाष्य ही उचित है, अन्य-प्रक्रियानुसारी नहीं। (पृ० ६४३) *यजुर्वेदकर्ता-ऋषियों के पांस एक (लुप्त)-ऋक्शाखासंहिता वा वेद था, जिससे लगभग ६०० मन्त्रों को उन्होंने यजुर्वेद में सम्मिलित किया। (पृ० ६४७) *ऋग्वेद से अन्य तीनों वेद अर्वाचीन हैं। (पृ० ६५२) *ऋग्वेद का मूल अज्ञात-वेद है। (पृ० ६५६) *सत्यविद्या वाला वेद अन्य ही होगा? (पृ० ६४७) *अन्तिमनिष्कर्ष साररूप से यह निकला कि हमारे पास विद्यमान चारों वेदसंहिताएँ, अन्य-शाखासंहताओं के समान, ऋषियोंद्वारा सङ्कलित एवं सम्पादित हैं। (पृ० ६५९)"

ग्रन्थ के उक्त सभी निष्कर्ष आर्यसमाज द्वारा पिछले १३५ वर्षों में प्रचारित वेद सम्बन्धी अवधारणाओं के सर्वथा विपरीत थे। अत: वे आर्यसमाज के वर्तमान वैदिक विद्वानों के लिए सर्वथा विस्मयकर भी थे। चूँकि उनका प्रतिवाद करने की उनमें क्षमता नहीं थी, इसीलिए उन्होंने इस ग्रन्थ के विषय में अब तक मौन रहना ही बेहतर समझा है।

पं० उपेन्द्रराव के अनुसार यजुर्वेद के १४वें, २४वें, २८ वें और ३९वें

अध्यायों में ऋग्वेद का कोई भी मन्त्र नहीं लिया गया है। इन अध्यायों के सभी मन्त्र यजुर्वेद के अपने गद्यमन्त्र हैं। शेष अध्यायों में १ से लेकर ९२ मन्त्र तक कुल मिलाकर ७५० मन्त्र हमें आज उपलब्ध ऋग्वेद से ही लिए गए हैं। ऋग्वेद की एक अन्य, अब अनुपलब्ध हो गई, शाखा से भी लगभग ६०० मन्त्र इस यजुर्वेद में लिए गए हैं। इस प्रकार यजुर्वेद के कुल १९७५ मन्त्रों में से प्रायः १३५० मन्त्र अर्थात् ६८.३५ प्रतिशत मन्त्र ऋग्वेद से ही लिए गए हैं जिनकी पहचान उनकी रचना के आधार पर सरलतापूर्वक की जा सकती है। इस प्रकार यजुर्वेद का शेष ३१.६५ प्रतिशत भाग ही गद्यमय है जिसके लिए ही वह यजुर्वेद के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार यजुर्वेद में यज्ञार्थ ऋग्वेद के मन्त्रों का सङ्कलन उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार महर्षि दयानन्द की **'संस्कारविधि'** पुस्तक में आर्यभाषा के गद्य के साथ ही साथ वेदमन्त्रों का किया गया है।

पं० उपेन्द्रराव के इस निष्कर्ष की पुष्टि में हमें एक प्रमाण पं० भगवद्दत्त जी के ग्रन्थ **'वैदिक वाङ्मय का इतिहास** *(द्वितीय भाग)***'**, पृ० २२८ की टीप क्र० २ के रूप में इस प्रकार मिला है–

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन ऽ आवः।
स बुध्न्या ऽ उपमा ऽ अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः।।
य० (१३/३)

उक्त मन्त्र पर पं० भगवद्दत्त जी की टिप्पणी है– "यह मन्त्र ऋग्वेद की किसी लुप्तशाखा में भी था।" पं० उपेन्द्रराव जी ने भी अपने ग्रन्थ **'यजुर्वेद का अन्तरङ्ग'** के पृ० २०६ पर लिखा है– "य० (१३/३) वाला मन्त्र– **'ब्रह्म जज्ञानं०'** लुप्त-ऋक्शाखा से लिया गया है। इस मन्त्र को सामवेद ने सा० ३२१ पर तथा अथर्ववेद ने अ० (४/१/१) पर विना किसी पाठभेद के उद्धृत किया है।"

यज्ञार्थ यजुर्वेद में मन्त्रों का सङ्कलन होना उसके निम्न प्रतीकमन्त्रों से भी होता सिद्ध होता है –

(१) **न तस्य प्रतिमा०** (य० ३२/३); प्रतीकमन्त्र २५/१०, १२/१०२; ८/३६, ३७
(२) **यं कन्दसी अवसा०** (य० ३२/७); प्रतीकमन्त्र २७/२५, २६
(३) **आ सुते सिञ्चता०** (य० ३३/२१); प्रतीकमन्त्र ७/१२, ७/१६
(४) **कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः०** (य० ३३/२७); प्रतीकमन्त्र ७/४०; ८/२;



८/३

(५) **दैव्यावध्वर्यू आ गतं॰** (य॰ ३३/३३); प्रतीकमन्त्र ७/१२; ७/१६; १२/४२

(६) **अधि न इन्द्रैषां॰** (य॰ ३३/४७); प्रतीकमन्त्र ७/१२; ७/१६; १२/१९; ३३/३४; ३३/१०; १२/३३

(७) **दस्रा युवाकवः सुता॰** (य॰ ३३/५८); प्रतीकमन्त्र ७/१२; ७/१६

(८) **दैव्यावध्वर्यू आ गतं॰** (य॰३३/७३); प्रतीकमन्त्र ७/१२; ७/१६

(९) **अस्येदिन्द्रो वावृधे॰** (य॰ ३३/९७); प्रतीकमन्त्र ३३/८१; ३३/८२; ३३/८३; ११/४२

(१०) **ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता॰** (य॰ ३४/५८); प्रतीकमन्त्र १७/१७; १७/२६; १७/२७; ११/८३

(११) **अभीमं महिमा दिवं॰** (य॰ ३८/१७); प्रतीकमन्त्र ११/३७

इस प्रकार सिद्ध होता है कि यजुर्वेद में विद्यमान मन्त्रसङ्कलन यज्ञ के अनुरोध पर ही हुआ है; न कि सत्यविद्याओं के प्रकाशनार्थ। इसलिए वेदों में मन्त्रों की आनुपूर्वी तथा अन्य संयोजन ऋषिकृत हैं; अपौरुषेय नहीं। ऐसे ही सङ्केत ऋषि दयानन्द ने भी अपनी **संस्कारविधि** में किए हुए हैं।

और भी देखिए, पं॰ हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार ने अपने यजुर्वेदभाष्य में अध्याय २४ के ४० मन्त्रों का और २५वें अध्याय के प्रथम ९ मन्त्रों का भाष्य नहीं किया है जिसके सम्बन्ध में उसके सम्पादक स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने टिप्पणी की है- "इस अध्याय का भाष्य पण्डित हरिशरण जी नहीं कर पाये थे। अगले अध्याय के नवम मन्त्र तक भी उन्होंने भाष्य नहीं किया था, अतः इन मन्त्रों को मूलरूप में ही छापा गया है।"

ऐसा क्यों हुआ जबकि आगे-पीछे के सभी अध्यायों और मन्त्रों पर पं॰ हरिशरण जी सिद्धान्तालङ्कार का भाष्य उपलब्ध है। इसका कारण हम पं॰ उपेन्द्रराव के अपने ग्रन्थ के पृ॰ ४५० और ४५५पर पढ़कर इस प्रकार जान सकते हैं-

"इस (२४वें) अध्याय में अन्य वेदों का अथवा लुप्त-ऋक्शाखा का कोई भी मन्त्र नहीं है और न कोई पूर्व-पुनरुक्तमन्त्र है। इसलिए इस अध्याय को शुद्ध-यजुर्वेदाध्याय मान सकते हैं। इसका निर्माण याज्ञिक-ऋषियों-द्वारा हुआ है।" तथा "इस (२५वें) अध्याय में प्रथम ९ मन्त्र २४वें अध्यायस्थ-मन्त्रों के अनुरूप गद्यशैली में हैं। वास्तव में इन्हें २४वें अध्याय में ही सम्मिलित

कर लेना चाहिए था। परन्तु ऐसा न होने का कारण याज्ञिक-दृष्टि है। काण्वसंहिता ने भी इसमें परिवर्तन नहीं किया, क्योंकि वह तो माध्यन्दिनसंहिता से भी अधिक याज्ञिक है।

"यदि ईश्वर ने इन दोनों अध्यायों का निर्माण किया होता, तो वह उपर्युक्त ९ मन्त्रों को अवश्य २४वें अध्याय में सम्मिलित कर लेता। इससे स्पष्ट है कि वेदों में मन्त्रों का जो वर्गीकरण मण्डल, सूक्त, अध्याय, वर्ग, अनुवाक आदि के रूप में दिखायी पड़ता है, वह ऋषिकृत है। और यजुर्वेद का निर्माण तो यज्ञार्थ ही सिद्ध होता है।

"इतनी-सी बात स्वीकार कर लेने पर वेदापौरुषेत्ववादियों की स्थिति अवश्य हलकी हो जाएगी।"

सो वेदों के अपौरुषेत्ववादी वैदिक विद्वान् इन नग्न सत्यों को स्वीकार करके भला अपनी भद्द क्यों कराते? इसीलिए वे सब अब तक चुप हैं। यद्यपि हमने उनमें से कुछ को इस आशय के पत्र भी लिखकर भेजे- "आप संस्कृत के विद्वान् हैं। वेदों पर लिखते भी रहते हैं। अब तक आपने **'यजुर्वेद का अन्तरङ्ग'** पुस्तक भी आद्योपान्त पढ़ ली होगी और उसके निष्कर्षों से सहमत अथवा असहमत होने का अपना मानस भी बना लिया होगा। यदि आप उसके किन्हीं निष्कर्षों से असहमत हैं तो उनमें से किन्हीं ५ का चयन करके उनसे अपनी असहमति को सिद्ध करने वाले हेतुओं को लिखकर हमें उपकृत करने का कष्ट अवश्य करें। अन्यथा हम मान लेंगे कि आप पुस्तक के निष्कर्षों से प्रायः सहमत हैं, अतः इस विषय में आप कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझते हैं।" लेकिन फिर भी किसी ने अपनी चुप्पी अब तक नहीं तोड़ी है। ऐसे में हमें यही मानना पड़ता है कि **'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्'।**

सामवेद के १८७५ मन्त्रों में १७८७ मन्त्र तो वर्तमान ऋग्वेद के ही हैं। शेष ८८ मन्त्र भी ऋग्वेद की उस शाखा से हो सकते हैं जो अब लुप्त हो चुकी है। और अथर्ववेद तो सबसे बाद की (**मनुस्मृति** तक में इसका नामोल्लेख न होने से) ऋषियों की रचना है। इसलिए मैं तो अब इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका हूँ कि अमैथुनी-सृष्टि में उत्पन्न किन्हीं तथाकथित मात्र चार ऋषियों (अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा) के माध्यम से वेदमन्त्रों का प्रकटीकरण नहीं हुआ था, अपितु अनेक ऋषियों के अन्तःकरण में मन्त्ररूप में जो विचार उत्पन्न हुए थे, उनका प्राथमिक सङ्कलन (संहिता) ही बाद में **ऋग्वेद** (अनेक शाखाओं से युक्त) कहलाया। इससे पूर्व ऐसी मन्त्र-अभिव्यक्तियाँ मात्र

श्रुति (सुनने-सुनाने) के रूप में ही प्रचलित रहीं जिससे कालान्तर में उनके निर्माताओं का नाम तक विस्मृत हो गया। इस प्रकार जब उनके रचयिताओं का ही कुछ पता न रहा तो लोग उन्हें अपौरुषेय (अर्थात् अज्ञात पुरुषों की रचना) मानने लगे जिसका कालान्तर में अर्थ ईश्वरोक्त माना जाने लगा।

मेरा इस विषय में विद्वानों के पीछे पड़ा रहना पं० उपेन्द्रराव तक को अब अच्छा नहीं लग रहा है। अतः वे लिखते हैं- "मेरे प्रकाशक श्री आदित्यमुनि जी वानप्रस्थ पूर्णतः आर्यसमाजी-प्रवृत्ति के हैं। अर्थात् वे लेखन, उसकी समीक्षा, फिर समीक्षा पर प्रतिक्रिया, पुनः समीक्षक का प्रतिवाद, फिर लेखक का प्रतिवाद, इत्यादि-इत्यादि अनन्तधारा को प्रवाहित रखने के पक्ष में विश्वास रखते हैं। इन सबमें व्यक्तिगत-आक्षेपों का पात्र प्रमुख होता है।"

मेरे साथ ऐसा इसलिए है कि मैंने आर्यसमाज के १० नियमों को अपने जीवन में आत्मसात् किया हुआ है जिनमें से चतुर्थ और नवम नियम में कहा गया है- "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।" और "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" परन्तु लगता है कि आर्यसमाज के अन्य विद्वानों और सदस्यों के लिए ये नियम केवल हाथी के दाँतों के समान ही दूसरों को दिखाने भर की वस्तुएँ हैं। मैं नहीं समझता कि इन नियमों को अपने आचरण में लाये विना हम ऋषि दयानन्द के सच्चे अनुयायी बन सकेंगे जो लिख गए हैं- "मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे आगे यदि मेरी कोई गलती भी पाई जाए तो उसे परीक्षा करके सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह (=आर्यसमाज) भी एक मत (=सम्प्रदाय) हो जाएगा।" सो मैंने तो परीक्षा करके ऋषि दयानन्द की वेदविषयक मान्यता में संशोधन कर लिया है! परन्तु जो ऐसा कर पाने का अब भी साहस नहीं जुटा पा रहे हैं, उन्होंने निश्चितरूप से ही आर्यसमाज को एक सम्प्रदाय बना रक्खा है। परन्तु मैं ऐसा नहीं कर पा रहा हूँ। मैं तो आर्यसमाज में ही जन्मा हूँ और आर्यसमाज में ही मरूँगा, भले ही पं० उपेन्द्रराव का अब आर्यविद्वानों से मोहभङ्ग ही क्यों न हो चुका हो।

अब हमने गत २७ सितम्बर, २०१० को **'यजुर्वेद का अन्तरङ्ग'** सहित पाँच पुस्तकें अध्ययनार्थ और समीक्षार्थ इस आग्रह के साथ डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार (ज्वालापुर) को भी भेज दी हैं कि वे **'वैदिक-पथ'** में इन पुस्तकों के विषय में अपना आशय यथासमय प्रकट करें। ■

वेद हमारे आदिम पूर्वज-ऋषियों के उद्गारों के सङ्कलनग्रन्थ हैं

हमें इस बात में अब किसी प्रकार की कोई दुविधा शेष नहीं रही है कि वेद हमारे आदिम पूर्वज ऋषियों के उद्गारों के सङ्कलनग्रन्थ हैं। इसीलिए ही हमने **'आदित्यप्रकाश** *(चतुर्थकिरण)*' के आरम्भ में एक लेख लिखा था कि– ***'वेदों का अपौरुषेयत्व एक अन्धविश्वासमात्र'*** है। इस लेख की प्रतिक्रिया में हमें ५ मई, २०१० को वेदों के वयोवृद्ध विद्वान् डॉ॰ रामनाथ वेदालङ्कार, ज्वालापुर का एक छः पृष्ठीय लेख प्राप्त हुआ था जो बाद में **'वैदिक-पथ'** (हिण्डौन सिटी)' और **'पाक्षिक परोपकारी'** (अजमेर) के क्रमशः अगस्त और अक्टूबर (प्रथम) के अङ्कों में भी प्रकाशित हुआ।

डॉ॰ रामनाथ जी वेदालङ्कार के इस लेख का उत्तर हम उन्हें अपने १२ जून, २०१० के पत्रद्वारा दे चुके थे और प्रतीक्षा कर रहे थे कि डॉक्टर साहब का यह लेख कब किसी आर्यपत्रिका में प्रकाशित हो तो हम भी उन्हें अपने द्वारा दिए गए उत्तर को प्रकाशित करके अपने पाठकों को भेज दें। अतः जब डॉक्टर साहब का यह लेख **'वैदिक-पथ'** में अगस्त, २०१० के अङ्क में प्रकाशित हुआ तो हमने भी ३ सितम्बर, २०१० को **'आदित्यप्रकाश** *(पञ्चमकिरण)*' में अपने उत्तर को प्रकाशित करके सबको भेज दिया।

अपने **'आदित्यप्रकाश** *(चतुर्थकिरण)*' वाले लेख में हमने वेदों के ईश्वरोक्त न होने के विषय में ऋषि दयानन्द के उसी तर्क का अनुकरण किया था जो उन्होंने मुसलमानों के मान्य ग्रन्थ **'कुरान'** को खुदा का कहा न होने के विषय में **'सत्यार्थप्रकाश** *(चतुर्दशसमुल्लास)*' के आरम्भ में दिया था। इतना होने पर भी जब डॉ॰ रामनाथ जी वेदालङ्कार ने अपने लेख में मुझे लिखा– "वेदों का अपौरुषेयत्व एक अन्धविश्वासमात्र है, यह सिद्ध करने के लिए आपने जो कुछ लिखा है, वह अत्यन्त निराशाजनक है, भले ही आप उसे परम प्रमाण मान लें और यह देखकर सन्तुष्ट हो लें कि किसी विद्वान् से उसका उत्तर नहीं बन पाया। श्रीमन्! ***वेद परमेश्वर की रचना तो हैं, परन्तु वेद उसने अपने लिए नहीं, किन्तु मनुष्य के लिए लिखे हैं, इसलिए भाषा, शैली आदि ऐसी है, जैसी का मनुष्य अभ्यस्त है।*** मनुष्य द्वारा परमेश्वर की पूजा करने की बात उसने अपने किसी लाभ के लिए नहीं, प्रत्युत मनुष्य के ही लाभ के लिए लिखी है, जैसे छात्रों की पाठ्य-पुस्तकों में छात्रों द्वारा विद्वान्

अध्यापकों व माता-पिता-अतिथि आदि का सम्मान किये जाने की बात लिखी जाती है।"

इसका उत्तर मैंने अपनी पञ्चमकिरण द्वारा यह दिया था- "आपका यह उत्तर वैसा ही है जैसा कि एक पौराणिक एक आर्यसमाजी को इस प्रकार दे कि परमेश्वर राम-कृष्णादि के रूप में इसलिए अवतार लेता है ताकि वह मानव-देह में आकर मानवीय लीलाएँ करके मनुष्य को क्रियात्मक रूप से शिक्षा दे सके। यह वह सब अपने लिए नहीं अपितु मनुष्य के लिए ही करता है। इसीलिए राम-कृष्णादि ईश्वरोपासनादि करने का दिखावा अपने किसी लाभ के लिए नहीं, प्रत्युत मनुष्य के लाभ के लिए ही करते थे ताकि वे उनसे शिक्षा लेकर तदनुसार अपना आचरण और व्यवहार बना सकें।"

लेकिन लगता है मेरे इस उत्तर से भी डॉक्टर साहब सन्तुष्ट नहीं हुए। अतः उन्होंने अपने १ अक्टूबर, २०१० के पोस्टकार्ड-पत्र द्वारा मुझे लिखा कि "**आदित्यप्रकाश** *(पञ्चमकिरण)*' के अन्तिम पृष्ठ पर आपने मेरे लेख से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करके उनके उत्तर में लिखा है- "यह कथन तो अवतारवाद के समर्थकों के कथन के सदृश है। अवतारवादी अपने समर्थन में भले ही आप द्वारा लिखित पंक्तियाँ कहें, किन्तु उनका खण्डन अन्य तर्कों से हो ही जाएगा। परमेश्वर यदि मानव को ज्ञान देगा, तो अपने स्तर की भाषा से और अपने स्तर की शैली से नहीं दे सकता। उसे मानव के स्तर की भाषा और शैली ही अपनानी पड़ेगी। सन्त लोग भी जैसा मानव समुदाय होता है, उसी के अनुरूप शिक्षा शैली अपनाते हैं। यह सामान्य तर्क मैंने अपने लेख में उपस्थित किया था, जो निर्दोष है।"

पाठक जरा डॉक्टर साहब के उत्तर को एक मुसलमान के द्वारा **सत्यार्थप्रकाश** के १४वें समुल्लास के आरम्भ में कुरान के खण्डन में ऋषि दयानन्द द्वारा दिए गए तर्क के प्रतिखण्डन में लगाकर देखें तो वे पाएँगे कि इस प्रकार तो कुरान भी अल्लाह का कलाम सिद्ध हो सकता है। वेद ही की क्या बात है!

डॉक्टर साहब ने मनुष्यों के अभ्यस्त होने की बात कही है और बताया है कि परमात्मा उसी शैली में मनुष्यों को वेदज्ञान देता है कि जिसके वे अभ्यस्त होते हैं। सो जब अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा तथाकथितरूप से सृष्टि के आरम्भ में ही अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुए थे तो वे पूर्व से किस भाषा और शैली के अभ्यस्त थे जो उन्हें उस शैली और भाषा में हमें आज

उपलब्ध वेदज्ञान दिया। उस प्रारम्भिक स्थिति में तो परमात्मा के पास यह विकल्प भी मौजूद था कि वह जिस शैली और भाषा में उन्हें वेदज्ञान देना चाहता, दे सकता था। पूर्व से उस भाषा और शैली में अभ्यस्त होने की तो परमात्मा के सामने कोई समस्या ही नहीं थी। फिर भाषा की आवश्यकता तो हम मनुष्यों के लिए है। परमत्मा जो निराकार है और जिसके मुखादि अवयव ही नहीं हैं, उसे किसी भाषा की आवश्यकता ही नहीं है।

कहा जाता है कि इन ऋषियों के पूर्वसृष्टि के किन्हीं जन्मों के कर्म ऐसे थे कि जिनके प्रतिफल के रूप में उनकी मुक्ति से पुनरावृत्ति के बाद उन्हें ही वेदज्ञान देने के लिए परमेश्वर ने योग्य पात्र समझा। ऐसी सब बातें तो लोगों को येन-केन-प्रकारेण समझाने भर के लिए ही की जाती हैं। वस्तुतः ऐसा ही है, यह कौन जानता है?

पाठक हमारे अगले लेख **'सत्यार्थप्रकाश का अष्टम समुल्लास और वेद'** के चौथे प्रश्न- ***'वेद-प्रकाश अन्य लोकों में भी'*** का हमारे द्वारा उसमें दिया गया उत्तर पढ़ें तो उन्हें पता चलेगा कि हमारी इस धरती का यह वेदज्ञान किसी दूसरी धरती के मनुष्यों के लिए सर्वथा अनुपयोगी और निरर्थक ही होगा। इसलिए जैसा दूसरी धरती के लोगों ने अपने लिए वेदों का निर्माण वहाँ कर लिया होगा, वैसे ही उनकी दृष्टि से हमारे पूर्वज ऋषियों ने भी यहाँ के लिए इस धरती पर कर लिया है।

इस विषय में जब हमने यजुर्वेद के अध्याय ३२ के १४वें मन्त्र-

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।।

को प्रस्तुत करते हुए यह लिखा कि यदि वेद ईश्वरोक्त हैं और यदि वे अमैथुनी सृष्टि के किन्हीं अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों के माध्यम से प्रकट हुए हैं तो क्या परमात्मा ने **'वायु'** ऋषि के माध्यम से यह झूठी प्रार्थना नहीं कराई? जैसा कि कुरान के खण्डन में ऋषि दयानन्द ने लिखा है- "यदि मनुष्यों को शिक्षा करता है कि तुम ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे पाप का आरम्भ भी खुदा के नाम से होकर उसका नाम भी दूषित हो जाएगा।" क्योंकि स्वयं वायु ऋषि तो अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न हुआ था। इसलिए उसके तो कोई पिता, पितामह, प्रपितामह आदि थे ही नहीं, तो वह झूठ ही क्यों अपने पितरों द्वारा उपासित मेधा-बुद्धि की याचना ब्रह्मादि ऋषियों को वेदाध्ययन कराते हुए कर रहा है? क्या ऐसा

झूठ बुलवाने का उत्तरदायित्व परमात्मा पर नहीं आता है?

यजुर्वेद के इस मन्त्र के सम्बन्ध में मेरी आपत्ति का उत्तर देते हुए स्वामी सोम्यानन्द सरस्वती (मथुरा निवासी) ने मुझे लिखा- "आपको यह नहीं मालूम कि वेदज्ञान ईश्वर ने मात्र चार ऋषियों हेतु ही नहीं दिया था बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि की आयु (४,३२,००,००,००० वर्ष) पर्यन्त के लिए दिया था। अत: ऋषियों के बाद के मानवों के पिता, पितामह, प्रपितामह थे। पूर्व सृष्टि में आदि ऋषियों के पूर्वज भी थे, क्योंकि जीव अविनाशी है, कर्मानुसार ही विभिन्न योनियों को भोगता है और मोक्ष भी पाता है।"

इस प्रकार स्वामी जी ने जो कुछ भी मुझे लिखा है, वह अब तक तो किसी ने भी मुझे नहीं लिखा था, यद्यपि वेद के अनेक विद्वानों के सामने मैं अपनी यह आपत्ति २० मई से लेकर तब तक प्रस्तुत कर चुका था। डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार तो ऐसे ८वें व्यक्ति थे, जिन्हें वह उत्तर अब तक नहीं सूझा है, जो स्वामी जी को अब सूझ गया है! इस मन्त्र में प्रयुक्त **'पितर'** शब्द **'पा' *रक्षणे*** धातु से बना है। अत: जो मनुष्य रक्षा करने में समर्थ हो, वही **'पिता'** वा **'पितर'** कहला सकता है। सो रक्षा करने में तो जीवित पितर ही समर्थ हो सकते हैं। मरे हुए वा पिछली सृष्टि के नहीं, जो पता नहीं मनुष्य थे भी वा कोई अन्य जीव-जन्तु ही, जो परमेश्वर की उपासना तक करने में समर्थ नहीं थे। अत: जब तक स्वामी जी वायु ऋषि के पिता, पितामह, प्रपितामह का नाम नहीं बता पाते हैं तब तक यही माना जाएगा कि परमात्मा ने उनसे झूठी प्रार्थना ही करवाई है। यदि यह प्रार्थना आगे पैदा होने वाले किन्हीं लोगों के लिए थी, तो परमात्मा द्वारा उन्हीं के माध्यम से यह वेदमन्त्र धरती पर उतारना चाहिए था। अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न तथाकथित **'वायु'** ऋषि के माध्यम से नहीं।

दरअसल वेदोत्पत्ति की यह पूरी कहानी ही झूठी और मनगढ़न्त है। **मनुस्मृति** में जिन्हें अग्नि, वायु और **रवि** कहा गया है, उन्हें ही ऋषि दयानन्द ने अग्नि, वायु और **आदित्य** बताया है। तब क्या व्यवहार में किसी व्यक्ति के नाम का भी अनुवाद हो सकता है? यदि हाँ तो क्या मेरा नाम **'आदित्यमुनि'** से **'रविमुनि'** हो जाएगा और वह सबके द्वारा मान लिया जाएगा? इसीलिए नामों का किसी भी भाषा में अनुवाद नहीं किया जाता है। **अङ्गिरा** से **अथर्ववेद** की उत्पत्ति की कहानी तो स्वामी दयानन्द सरस्वती की स्वयं की ही मनगढन्त है। अन्यथा स्वामी सोम्यानन्द जी **'मनुस्मृति'** से **'अथर्ववेद'**

को ढूँढकर हमें बताएँ कि उसके किस श्लोक में उसकी उत्पत्ति अङ्गिरा ऋषि के माध्यम से बताई गई है। इस कहानी के मनगढन्त होने का दूसरा प्रमाण यह है कि स्वामी सोम्यानन्द जी अग्नि, वायु, आदित्य के वंशजों (पुत्र, पौत्रों आदि) का नाम भी नहीं बता सकते हैं, जबकि ब्रह्मा जी के पुत्रों के नाम उन्हें मालूम होंगे। दरअसल वे अग्नि (आग), वायु (हवा) और आदित्य (सूरज) ही हैं जिनको सृष्टि के आदि-मानवों ने पहले पहल देखा और अनुभव किया। इसीलिए उन्हें ही **ज्ञान** (आग = प्रकाशस्वरूप होने से), **कर्म** (हवा = कर्मशील होने से) और **उपासना** (आरम्भ में मानव ने सूर्य को ही कुतूहलवश उपासनीय समझा था) के प्रतीक के रूप में यह रूपक गढ़ डाला है।

यदि हमारा ऐसा तर्क करना गलत है तो फिर ऋषि दयानन्द का भी कुरान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उसकी पहली आयत पर ऐसा ही तर्क करना गलत मानना पड़ेगा। आखिरकार दो ग्रन्थों की सत्यता परखने के लिए दो अलग-अलग मापदण्ड तो नहीं अपनाए जा सकते।

आज मुझे अपनी यह मान्यता इतनी सुदृढ लगने लगी है कि जब भी मैं विभिन्न आर्यविद्वानों के वेदविषयक लेखों में यह पढ़ता हूँ कि चारों वेद ईश्वरोक्त हैं, तो मुझे ऐसा लगता है कि मानो इन विद्वानों में झूठ बोलने की कोई प्रतियोगिता हो रही हो! यह भी तब है जब ऋषि दयानन्द ने जिस आर्यसमाज़ की १८७५ ई० में स्थापना की थी, उसका मुख्याधार ही उन्होंने सत्य को घोषित किया था।

आज ऐसे कितने आर्यसमाजी होंगे जिन्होंने चारों वेदों को आद्यन्त पढ़कर समझ रक्खा होगा? सम्भवतः एक प्रतिशत भी नहीं! अतः आवश्यकता इस बात की है कि चारों वेदों से काम के मन्त्रों का चयन करके उन्हें भगवद्गीता के समान शब्दार्थसहित एक जिल्द में प्रकाशित किया जाए ताकि प्रत्येक आर्यसमाजी कम से कम उतने मन्त्रों को तो अपने जीवनकाल में एक बार अवश्य ही पढ़ और विचार कर सके। ऐसा हुए विना जैसे पिछले १३५ वर्ष निरन्तर पतन की ओर अग्रसर रहते हुए ही आंर्यसमाज के बीत गए हैं, वैसे ही आगे भी बीत जाएँगे तथा एक न एक दिन वह नामशेष हो जाएगा!

जिस दिन यह मान लिया जाएगा कि वेद हमारे आदिम पूर्वज ऋषियों के उद्गारों के सङ्कलन-ग्रन्थ हैं, उस दिन से आर्यसमाज के दिन फिरने लगेंगे जिससे वह पुनः अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर सकेगा। ■

सत्यार्थप्रकाश का अष्टम-समुल्लास और वेद

महर्षि दयानन्द सरस्वती की उत्तराधिकारिणी, परोकारिणी सभा, अजमेर ने इस वर्ष प्रतिवर्ष ऋषि मेले के अवसर पर आयोजित की जाने वाली वेदगोष्ठी का विषय **'सत्यार्थप्रकाश का अष्टम समुल्लास और वेद'** रक्खा था और इसमें जिन विषयों पर विद्वानों से उनके लेखों की अपेक्षा की गई थी, उन २९ विषयों में से मैंने अपने लिए निम्न चार विषयों का चयन किया था-

१- लोक-लोकान्तर का धारक ईश्वर
२- पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर भ्रमण
३- अन्य लोकों में भी प्राणी और
४- वेद-प्रकाश अन्य लोकों में भी।

इन चार विषयों के सम्बन्ध में **'सत्यार्थप्रकाश'** के अष्टम समुल्लास में जो कुछ प्रतिपादित किया गया है, उसका सार-संक्षेप इस प्रकार है-

१- लोक-लोकान्तर का धारक ईश्वर : जो त्रैकाल्याबाध्य, जिसका कभी नाश नहीं होता, उस परमेश्वर ने भूमि, आदित्य और सब लोकों का धारण किया है।

२- पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर भ्रमण : (प्रश्न) पृथिव्यादि लोक घूमते हैं, वा स्थिर (हैं)? **(उत्तर)** घूमते हैं।

३- अन्य लोकों में भी प्राणी : (प्रश्न) सूर्य, चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं? और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है, वा नहीं? **(उत्तर)** ये सब भूगोल लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है।

४- वेद-प्रकाश अन्य लोकों में भी : (प्रश्न) जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं वेदों का उन लोकों में भी प्रकाश है, वा नहीं? **(उत्तर)** उन्हीं का है, जैसे एक राजा की राजव्यवस्था नीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने-अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एक सी है।

विषयप्रवेश एवं उसका प्रतिपादन

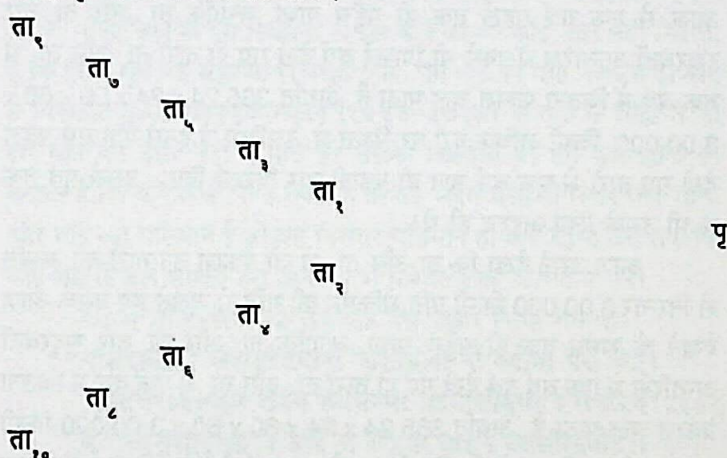
कुछ समय पूर्व ही परम्परागत धार्मिक मान्यताओं को चुनौती देते हुए ब्रिटिश वैज्ञानिक स्टीफन हाकिंग्स ने दावा किया है कि ईश्वर ने ब्रह्माण्ड की रचना नहीं की है। अपनी नई पुस्तक **'द ग्राण्ड डिजाइन'** में उन्होंने कहा है कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के वास्ते जिम्मेवार **'बिग बैंग'** (महाविस्फोट) के लिए भौतिक विज्ञान के गुरुत्वाकर्षण के नियम जिम्मेदार हैं। इसमें ईश्वर की कोई भूमिका नहीं है।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और विकास की जानकारी जिस बिग बैंग माडल से मिलती है, उसके अनुसार **ब्रह्माण्ड पहले बेहद सघन एवं गर्म** था, जिसका तेजी से विस्तार हुआ। लगातार प्रसार से यह ठण्डा होता गया और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। अब भी इसका प्रसार हो रहा है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रमाणों के आधार पर यह वैज्ञानिक माडल सबसे उपयुक्त माना जा रहा है।

यदि हम थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति किसी महाविस्फोट से ही हुई है, तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि यह महाविस्फोट क्यों और कैसे हुआ? क्योंकि बिना निमित्त कारण के कोई कार्य नहीं होता है। यदि इस महाविस्फोट में किसी ईश्वर की कोई भूमिका ही नहीं है तो आजकल जो जब-तब हमारी इस धरती पर यहाँ-वहाँ निरन्तर बम-विस्फोट होते रहते हैं, उनके पीछे भी किसी मानुषी आतङ्कवादी की कोई भूमिका नहीं होनी चाहिए। तब फिर क्यों विभिन्न सरकारी जाँच एजेंसियाँ और पुलिस उनका पता लगाने के लिए दिन-रात परिश्रम करती हैं और उन्हें ढूँढ़ कर ही चैन की साँस लेती हैं। इसलिए मेरा वैज्ञानिकों से आग्रह है कि वे इस तथाकथित बिग बैंग के पीछे जिस अदृष्य शक्ति की भूमिका हो, उसका भी पता लगाएँ। ब्रिटिश वैज्ञानिक स्टीफन हाकिंग्स तो अब तक उसका पता लगा पाने में असमर्थ रहे हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार बिग बैंग तब हुआ जब ब्रह्माण्ड पहले सघन और गर्म हो चुका था। इससे तो ऐसा लगता है कि ब्रह्माण्ड का अस्तित्व किसी दूसरी अवस्था में (सघन और गर्म अवस्था में) पहले से ही था जिसका ही बाद में विस्फोट के फलस्वरूप फैलाव और शीतलीकरण हुआ जिससे वर्तमान में हमें आज ज्ञात यह ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया। तब फिर इस बात का भी समाधान करना होगा कि इससे पूर्वावस्था वाला ब्रह्माण्ड कैसे बना था?

ब्रह्माण्ड का निरन्तर विस्तार हो रहा है, इस बात को हम एक विज्ञान के विद्यार्थी के रूप में नकारते हैं। हमारी इस बात को समझने के लिए कृण्या निम्न चित्र को देखिए-



मान लीजिए कि ब्रह्माण्ड का वर्तमान द्रष्टा वैज्ञानिक पृथ्वी के 'पृ' विन्दु से वर्तमान ब्रह्माड में विद्यमान तारों (ता$_{१}$, ता$_{२}$, ता$_{३}$ -----ता$_{९}$, ता$_{१०}$ इत्यादि) को अन्तरिक्ष में प्रतिवर्ष एक निश्चित दिनाङ्क और समय पर देखता है। इसी क्रम में उसने आज से तीन वर्ष पहले देखा कि ता$_{१}$ और ता$_{२}$ तारों से जो प्रकाश इन दो तारों की उत्पत्ति से लेकर आज से तीन वर्ष पहले तक निरन्तर 3,00,000 किमी प्रति सेकिण्ड की गति से चलता हुआ उसके देखने के दिन तक ही पहुँच पाया था, इसलिए उसे ता$_{१}$ और ता$_{२}$ तारे सुदूर अन्तरिक्ष में एक साथ तीन वर्ष पूर्व ही पहली बार दिखाई दिए। इससे पूर्व तक वे उसके लिए अदृश्य ही थे।

दो वर्ष पहले उसने देखा कि ता$_{३}$ और ता$_{४}$ से जो प्रकाश इन तारों की उत्पत्ति से निरन्तर 3,00,000 किमी प्रति सेकिण्ड की गति से चलते हुए दो वर्ष पहले उसके देखने के दिन तक ही पहुँच पाया, क्योंकि ता$_{३}$ और ता$_{४}$ तारे सुदूरवर्ती अन्तरिक्ष में इनसे पिछले वर्ष देखे गए दो तारों ता$_{१}$ और ता$_{२}$ से एक वर्ष में जितना प्रकाश चल पाता है, अर्थात् 365.24 x 24 x 60 x 60 x 3,00,000 (= प्रकाश वर्ष) किमी अधिक दूरी पर स्थित थे, इसलिए वे तीन वर्ष पहले देखे गए तारों से एक वर्ष बाद ही पहली बार दिखाई दिए। इससे

पूर्व तक ये उसके लिए अदृश्य ही थे।

एक वर्ष पहले उसने देखा कि ता$_{५}$ और ता$_{६}$ से जो प्रकाश उन तारों की उत्पत्ति से निरन्तर 3,00,000 किमी प्रति सेकिण्ड की गति से चलते हुए आज से एक वर्ष पहले तक ही पहुँच पाया, क्योंकि ता$_{५}$ और ता$_{६}$ तारे सुदूरवर्ती अन्तरिक्ष में इनसे भी पिछले वर्ष देखे गए दो तारों ता$_{३}$ और ता$_{४}$ से एक वर्ष में जितना प्रकाश चल पाता है, अर्थात् 365.24 x 24 x 60 x 60 x 3,00,000 किमी अधिक दूरी पर स्थित थे, इसलिए वे इनसे एक वर्ष पहले देखे गए तारों से एक वर्ष बाद ही पहली बार दिखाई दिए। इससे पूर्व तक ये भी उसके लिए अदृश्य ही थे।

आज उसनै देखा कि ता$_{७}$ और ता$_{८}$ से जो प्रकाश उन तारों की उत्पत्ति से निरन्तर 3,00,000 किमी प्रति सेकिण्ड की गति से चलते हुए उसके आज देखने के समय तक ही पहुँच पाया, क्योंकि ता$_{७}$ और ता$_{८}$ तारे सुदूरवर्ती अन्तरिक्ष में एक वर्ष पूर्व देखे गए दो तारों ता$_{५}$ और ता$_{६}$ से एक वर्ष में जितना प्रकाश चल पाता है, अर्थात् 365.24 x 24 x 60 x 60 x 3,00,000 किमी ज्यादा दूरी पर स्थित थे, इसलिए वे इनसे एक वर्ष पूर्व देखे गए तारों से एक वर्ष बाद ही पहली बार आज दिखाई दिए। इससे पूर्व तक वे उसके लिए अदृश्य ही थे।

इसी प्रकार आगे एक वर्ष बाद वह देखेगा कि ता$_{९}$ और ता$_{१०}$ से जो प्रकाश उन तारों की उत्पत्ति से निरन्तर 3,00,000 किमी प्रति सेकिण्ड की गति से चलते हुए उसके एक वर्ष बाद देखने के समय तक ही पहुँच पाएगा, क्योंकि ता$_{९}$ और ता$_{१०}$ तारे सुदूरवर्ती अन्तरिक्ष में आज देखे गए दो तारों ता$_{७}$ और ता$_{८}$ से एक वर्ष में जितना प्रकाश चल पाता है, अर्थात् 365.24 x 24 x 60 x 60 x 3,00,000 किमी ज्यादा दूरी पर स्थित हैं, इसलिए वे इनसे आज देखे गए दो तारों से एक वर्ष बाद ही उसे पहली बार दिखाई पड़ेंगे। इससे पूर्व तक वे उसके लिए अदृश्य ही रहेंगे।

इसलिए पृथ्वीस्थ द्रष्टा वैज्ञानिक के लिए जिस ब्रह्माण्ड का विस्तार तीन वर्ष पहले ता$_{१}$ और ता$_{२}$ की परस्पर दूरी तक ही था, वह दो वर्ष पहले ता$_{३}$ और ता$_{४}$ की परस्पर दूरी तक, एक वर्ष पहले ता$_{५}$ और ता$_{६}$ की परस्पर दूरी तक और आज ता$_{७}$ और ता$_{८}$ की परस्पर दूरी तक हो गया तथा अगले वर्ष ता$_{९}$ और ता$_{१०}$ की परस्पर दूरी तक हो जाएगा जो हमें ब्रह्माण्ड के निरन्तर विस्तृत होते जाने का आभास कराएगा। वैसे ब्रह्माण्ड तो जितना पहले था,

उतना ही अब भी रहा है और भविष्य में भी रहेगा। आज के वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड के निरन्तर होने वाले इसी आभासित विस्तार को ही बिग बैंग की संज्ञा दे रहे हैं जिसका वास्तव में मेरी दृष्टि में कोई अस्तित्व ही नहीं है।

वैज्ञानिकों के इस सिद्धान्त से इस बात का भी कोई उत्तर नहीं मिलता है कि इससे पूर्व वह ब्रह्माण्ड घनीभूत और गर्म कैसे हो गया, जिसमें ही बाद में विस्फोट हुआ। आइज़क न्यूटन (१६४३-१७२७) के गति के सिद्धान्त भी इस बात का उत्तर नहीं दे पाते हैं। उसका सिद्धान्त तो हमें बस इतना ही बताता है कि यदि कोई पिण्ड स्थिर है तो वह सदैव वैसा ही स्थिर बना रहेगा और यदि वह गतिमान है तो वह निरन्तर गतिमान ही बना रहेगा जब तक कि कोई बाहरी बल उसकी इस अवस्था में परिवर्तन का कारण न बने।

वेद में सृष्टि-सम्बन्धी ऊहापोह इस प्रकार किया गया है-

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।।१।।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।।२।।
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।।३।।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।४।।
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः
परस्तात्।।५।।
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।।६।।
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।७।।

ऋग्वेद (१०/१२९/१-७)

अर्थात्- **(तदानीम्)** तब **(न)** नहीं **(असत्)** असत् **(आसीत्)** था। **(नो)** नहीं ही **(सत्)** सत् **(आसीत्)** था। **(न)** नहीं **(रजः)** रजस् {= धूलिकण} **(आसीत्)** था। **(यत्)** जो **(परः)** आगे **(व्योमा)** आकाश {भी} **(नो)** नहीं {था}। **(किम्)** क्या **(आ)** सब ओर से **(अवरीवः)** आवरण का

अभाव {था}? **(कुह)** कहाँ {और} **(कस्य)** किसके **(शर्मन्)** आश्रय में **(गहनम्)** गहन {तथा} **(गभीरम्)** गम्भीर **(अम्भः)** जल **(किम्)** क्या {विद्यमान} **(आसीत्)** था?

(न) नहीं **(मृत्युः)** **(आसीत्)** था। **(तर्हि)** तो **(अमृतम्)** अमरत्व {भी} **(न)** नहीं {था}। **(न)** नहीं **(रात्र्या)** रात्रि के {**(सह)** साथ} **(अह्नः)** दिन का **(प्रकेतः)** प्रज्ञान {भी} **(आसीत्)** था।{परन्तु} **(स्वधया)** स्वसत्ता से {विद्यमान} **(तत्)** वह **(एकम्)** एक **(अवातम्)** निश्चल {तत्त्व} **(आनीत्)** प्राणरूप में था। **(तस्मात्)** उससे **(अन्यत्)** अन्य **(किम्)** कोई **(चन)** भी **(परः)** परे **(ह)** निश्चय से **(न)** नहीं **(आसीत्)** था।

(अग्रे) पहले **(गूळहम्)** गूढ **(तमः)** तमस् {=अन्धकार} **(तमसा)** तमस् से {=अन्धकार से} {ही व्याप्त} **(आसीत्)**.था। **(अप्रकेतम्)** जानने में असम्भव **(इदम्)** यह **(सलिलम्)** जल **(सर्वम्)** सब {ओर} **(आः)** फैला हुआ था। {उसमें} (यत्) जो **(तुच्छ्येन)** अतिसूक्ष्मता से **(अपिहितम्)** गुप्त रखा हुआ **(आभु)** बहु-व्यापक-{तत्त्व} **(आसीत्)** था, **(तत्)** वह **(एकम्)** एक {अपने} **(तपसः)** तप की **(महिना)** महिमा से **(अजायत)** प्रकट हुआ।

(यत्) जो **(मनसः)** मन का **(प्रथमम्)** पहला **(रेतः)** शुक्रबीज **(आसीत्)** था, **(तत्)** वह **(अग्रे)** पहले **(कामः)** काम के {रूप में} **(अधि)** उच्चता पर **(सम्)** बहुत **(अवर्तत)** वर्तमान रहा। **(कवयः)** कवियों ने **(मनीषा)** मन की कामना से **(हृदि)** हृदय में **(प्रति)** पुनः **(इष्य)** इच्छा करके **(असति)** असत् में **(सतः)** सत् के **(बन्धुम्)** बन्धन को **(निः)** नितराम **(अविन्दन्)** प्राप्त किया।

{**(ते)** वे} (रेतोधाः) रेतस् को धारण करने वाले **(आसन्)** रहे थे। {और} **(महिमानः)** महानतावाले {भी} **(आसन्)** थे। **(एषाम्)** इनका **(तिरश्चीनः)** तिर्यग्गमनशील {व} **(विततः)** विस्तृत **(रश्मिः)** रश्मि {=बन्धन} **(अधः)** नीचे **(स्वित्)** भी **(आसीत्)** था। {और} **(उपरि)** ऊपर **(स्वित्)** भी **(आसीत्)** था। {इनकी} **(स्वधा)** स्वसत्ता **(अवस्तात्)** नीचे की ओर {थी}। {किन्तु} {इनकी} **(प्रयतिः)** नियन्त्रणशक्ति **(परस्तात्)** ऊपर की ओर {थी}।

(इयम्) यह **(विसृष्टिः)** विविधसृष्टि **(कुतः)** क्यों {और} **(कुतः)** कहाँ से **(आजाता)** उत्पन्न {होकर} आयी? {इसे} **(कः)** कौन **(अद्धा)** ठीक से **(वेद)** जानता है? **(इह)** यहाँ **(कः)** किसने {इसके बारे में} **(प्र वोचत्)**

प्रवचन किया? **(अस्य)** इसके **(विसर्जनेन)** विविधसृजन के **(अर्वाक्)** पश्चात् {ही} **(देवाः)** देवगण {**(प्रादुर्भवन्ति)** प्रकट होते है}। {अतः} **(अथ)** अब {यह विविधसृष्टि} **(यतः)** जहाँ से **(आबभूव)** उत्पन्न हुई थी, {उसे} **(कः)** कौन **(वेद)** जान {सक}ता है?

(इयम्) यह **(विसृष्टिः)** विविधसृष्टि **(यतः)** जहाँ से **(आबभूव)** उत्पन्न हुई थी, {उसे} {किसी ने} **(यदि वा)** यदि **(दधे)** धारण किया था **(वा)** अथवा **(यदि)** यदि **(न)** नहीं {धारण किया था}, {इस बात को}, **(अङ्ग)** हे पुत्र! **(यदि वा)** यदि {(अहम्) मैं } **(न)** नहीं **(वेद)** जानता हूँ {तो} **(यः)** जो **(परमे)** सर्वोत्कृष्ट **(व्योमन्)** आकाश में {स्थित} **(अस्य)** इसका **(अध्यक्षः)** अध्यक्ष {है}, **(सः)** वह **(वेद)** जानता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने सृष्टि की रचना का क्रम निम्न प्रकार से बताया है–

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।।

प्रकृति की जो प्रलयावस्था थी, उसमें उसके कुछ हो जाने अथवा बन जाने की स्थिति बिना परमात्मा के ईक्षण (इच्छा करने) के नहीं बन सकती थी। सो परमात्मा ने जब इच्छा की कि मैं सब जगत् को बनाकर प्रसिद्ध होऊँ तो सृष्टि बनने की प्रक्रिया वैसे ही आरम्भ हो गई, जैसे आजकल जब बटन दबाकर किसी कारखाने का उद्घाटन किसी नेता द्वारा किया जाता है तब कारखाने की सारी प्रक्रियाएँ एक साथ आरम्भ हो जाती हैं। ईश्वर के इस ईक्षण का परिणाम यह हुआ कि जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र आकाश में फैल रहा था, वह विभिन्न केन्द्रों पर इकट्ठा होना शुरू हो गया। इस कारणरूप द्रव्य से जो स्थान रिक्त हुआ, वह आकाश हुआ। वास्तव में आकाश तो पहले भी था, जहाँ वह कारण रूप द्रव्य भरा हुआ था, परन्तु वह उस द्रव्य से रिक्त न होने के कारण अनुत्पन्न सा था। इस प्रकार पहले कुछ घनीभूत हुई वायु बनी। फिर उसके परस्पर घर्षण से अग्नि (ऊर्जा) उत्पन्न हुई। ऐसा हो जाने पर आपः (तरल पदार्थ) वैसे ही उत्पन्न हुए जैसे आक्सीजन वायु अथवा हाइड्रोजन वायु को एक-दूसरे के वातावरण में जलाने से जल (तरल पदार्थ) बन जाता है। जब यह तरल पदार्थ और घनीभूत हुआ तो वह पृथिवी (अर्थात् ठोस पदार्थ बर्फ जैसा) बन गया। बाद में पृथिवी पर वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई और

उन वनस्पतियों से अन्न। अन्न से रेत (वीर्य) बना और वीर्य से पुरुष (जीव सृष्टि) की रचना हुई। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में परमात्मा की ईक्षण शक्ति ने ही निरन्तर काम किया है जिसे ही वैज्ञानिकों ने गुरुत्वाकर्षण का नाम दे रक्खा है।

यह गुरुत्वाकर्षण प्रत्येक पिण्ड में सघनीभूत हुए द्रव्य की मात्रानुसार ही होता है। अतः सूर्य जैसे विशालकाय पिण्ड का गुरुत्वाकर्षण सर्वाधिक है। गुरुत्वाकर्षण में दूसरा स्थान बृहस्पति का, तीसरा स्थान शनि का, चौथा स्थान नेपच्यून का, पाँचवाँ स्थान यूरेनस का, छठा स्थान पृथ्वी का, सातवाँ स्थान शुक्र का, आठवाँ स्थान मङ्गल का, नवाँ स्थान प्लूटो का और दशवाँ स्थान बुध का है जो हमारे सौर मण्डल का सबसे छोटा ग्रह है।

सो यह प्रक्रिया जिस केन्द्र पर अग्नि (ऊर्जा) बनने पर आकर रुक गई (अथवा परमात्मा द्वारा रोक दी गई), वह अग्नि का गोला अर्थात् तारा वा सूर्य बन गया जो जलती हुई गैसों का एक गोला ही है। परन्तु जिन केन्द्रों पर यह घनीभूत होने की प्रक्रिया आगे भी चलती रही, वे गोले पृथिवियाँ बन गईं। इन पृथिवियों पर भी जहाँ-जहाँ बनने की प्रक्रिया थम गई, वे पृथिवियाँ ही बनकर रह गईं। परन्तु जहाँ-जहाँ यह प्रक्रिया आगे भी चलती रही, वहाँ-वहाँ वनस्पतियाँ और जीवधारी भी उत्पन्न हो गए। जैसा कि हमारी पृथिवी पर हुआ।

इस प्रकार बने हमारे अपने सूर्य के चारों ओर घूमने वाले ग्रहों के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों द्वारा पता लगाई गई कुछ जानकारियाँ निम्न प्रकार हैं-

ग्रह का नाम	*सूर्य से ग्रह की औसत दूरी (पृथ्वी की औसत दूरी की अपेक्षा से)*	*सूर्य की एक परिक्रमा में लगने वाला समय (पृथ्वी की अपेक्षा से)(वर्षों में)*	*पृथिवी की अपेक्षा से ग्रह की मात्रा*	*(पृथ्वी की अपेक्षा से) दो ग्रहों की परस्पर औसत दूरी*
१- बुध	0.387	0.241	0.054	0.387 (सूर्य से)
२- शुक्र	0.723	0.615	0.815	0.336
३- पृथ्वी	1.000	1.000	1.000	0.277

४-मङ्गल	1.524	1.881	0.108	0.524
५- गुरु	5.203	11.86	317.8	3.679
६- शनि	9.540	29.46	95.2	4.337
७- यूरेनस	19.18	84.01	14.5	9.64
८- नेपच्यून	30.07	164.8	17.2	10.89
९- प्लूटो	39.44	248.4	-	9.37

इन ग्रहों की परस्पर दूरियाँ कुछ वैसे ही अनुपात में होना जैसे उनके आकार हैं, यह सिद्ध करता है कि वे सब स्वतन्त्ररूप से ही उसके चारों ओर फैले हुए द्रव्य के घनीभूत होने से बने हैं, सूर्य से छिटक कर नहीं जैसा कि वैज्ञानिकों का प्रायः मानना रहा है।

जब विभिन्न सूर्य (तारा) और पृथिवियाँ बन गईं तो परमात्मा ने फिर ईक्षण किया अर्थात् उनमें एक प्रकार से घड़ीवत् चाबी भरी जिससे वे गतिमान हो उठे। तब आइजक न्यूटन का गति का वह नियम काम करने लगा कि जो गति किसी पिण्ड को आरम्भ में दे दी जाती है, वह उसी गति से निरन्तर तब तक गतिमान बना रहता है, जब तक कि कोई बाह्य बल उसे रोकने की चेष्टा न करे। सो ब्रह्माण्ड के सारे पिण्ड (सूर्य वा पृथिवियाँ) चल पड़े। उनका ऐसा चल पड़ना भी बिना परमात्मा के सम्भव नहीं हो सकता था क्योंकि आइज़क न्यूटन का नियम हमें यह भी बताता है कि जो पिण्ड जैसी (स्थिर) अवस्था में है, वह वैसी ही स्थिर अवस्था में तब तक बना रहेगा, जब तक कि कोई बाह्य बल उसे अपनी पूर्वावस्था बदलने के लिए प्रेरित न करे। इस प्रकार यहाँ भी बाह्य बल परमात्मा का ही लगा।

वैज्ञानिक जोहन केपलर (१५७१-१६३० ई०) ने पता लगाया कि सभी ग्रह दीर्घवृत्त में सूर्य की परिक्रमा करते हैं, परन्तु ग्रहों की गति का यह पथ दीर्घवृत्ताकार ही क्यों होता है, इसका कारण वह पता नहीं लगा पाया। मैंने ही १९५८ में इसके कारण का पता किया। वह कैसे? देखिए-

१९५८ में इञ्जीनियरिङ्ग की प्रवेश परीक्षा देने के लिए मैंने तैयारी प्रारम्भ की थी। उसको करते हुए मुझे एक नया विचार आया। मैंने तब तक एस० एल० लोनी की नियामक ज्यामिति (प्रथम भाग) ही पढ़ी हुई थी जिसमें एक ही समतल पर विस्तार पाने वाली द्विआयामी विभिन्न आकृतियों और रेखाओं के विषय में मुझे पढ़ाया गया था। उस समय मेरे मन में विचार आया

कि आकाश में त्रिआयामी विस्तार वाली आकृतियों के विषय में भी कोई गणित की विधा होनी चाहिए। इस पर विचार करते हुए मैंने एस० एल० लोनी की द्विआयामी आकृतियों के समानान्तर ही त्रिआयामी आकृतियों के समीकरण भी ज्ञात करने आरम्भ कर दिए जिसमें मुझे सफलता भी मिलती चली गई और मैंने कुछ ही समय में रेखाओं, समतल, गोलक, परवलयक, अतिपरवलयक आदि के समीकरण खोज निकाले। आकाश में दिए गए दो बिन्दुओं, जिनके नियामक (x, y, z अथवा य, र, ल) के रूप में दिए गए हों, की पारस्परिक दूरी निकालना, आकाश में दिए गए चार बिन्दुओं से बनने वाले ठोस का आयतन ज्ञात करना और यदि यह आयतन शून्य हो तो उन चारों बिन्दुओं का एक ही समतल पर स्थित होना आदि भी हमने तब जान लिया था। जैसे नियामक ज्यामिति में वृत्त का समीकरण–

$x^2 + y^2 = r^2$ मुझे पढ़ाया गया था, वैसे ही मैंने एक ठोस गोलक का समीकरण–

$x^2 + y^2 + z^2 = r^2$ भी निकाल लिया था और तत्सम्बन्धी अनेक प्रकार के प्रश्नों को मैं हल करने लगा था।

इसके साथ ही परवलयक (Paraboloid) और अतिपरवलयक (Hyperboloid) के समीकरण भी हमने पता कर लिए थे और इन्हें एक नई परिभाषा भी दी थी। जैसे नियामक ज्यामिति में हमें यह पढ़ाया गया था कि किसी बिन्दु का बिन्दु–पथ जो इस प्रकार गमन करता हो कि उसकी एक निश्चित बिन्दु से दूरी सदैव एक निश्चित सरल रेखा से लम्बवत् दूरी के एक स्थिर अनुपात में रहती हो, एक शङ्कु–छिन्नक कहलाता है। इस स्थिर अनुपात को शङ्कु–छिन्नक की eccentricity कहते हैं। जो इकाई के बराबर होने से बनने वाली आकृति परवलय, इकाई से कम होने पर बनने वाली आकृति दीर्घवृत्त तथा इकाई से अधिक होने पर बनने वाली आकृति अतिपरवलय कहलाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शङ्कु–छिन्नकों की तीन विभिन्न आकृतियों की परिभाषा करने के लिए स्थिर अनुपात को इकाई, उससे कम और अधिक रखना पड़ता है। अतः दीर्घवृत्त और अतिपरवलय के लिए भी क्यों न ऐसी परिभाषाएँ ढूँढ़ी जाएँ जिनमें ऐसा अनुपात इन आकृतियों के लिए भी इकाई ही रक्खा जा सके। पर्याप्त ऊहापोह के बाद मैंने इन दोनों आकृतियों के लिए निम्न नई परिभाषाएँ निर्धारित कीं–

दीर्घवृत्त- यह उस बिन्दु का बिन्दु-पथ है जो इस प्रकार गमन करता है कि उसकी एक निश्चित वृत्त की परिधि से लम्बवत् दूरी सदैव उसी वृत्त के अन्दर स्थित एक निश्चित बिन्दु से दूरी के बराबर रहती है, एक दीर्घवृत्त कहलाता है। इसमें दीर्घवृत्त की दो नाभियाँ क्रमशः एक निश्चित वृत्त का केन्द्र और दूसरी स्वयं उस निश्चित बिन्दु के रूप में ही होती हैं।

अतिपरवलय- यह उस बिन्दु का बिन्दु-पथ है जो इस प्रकार गमन करता है कि उसकी एक निश्चित वृत्त की परिधि से लम्बवत् दूरी सदैव उसी वृत्त से बाहर स्थित एक निश्चित बिन्दु से दूरी के बराबर रहती है, एक अतिपरवलय कहलाता है।

उक्त परिभाषाओं के अनुसार हमने इन आकृतियों के निम्न समीकरण भी तब खोज निकाले थे-

दीर्घवृत्त-

$४ य^२ / त्र^२ + ४ र^२ / (त्र^२ - स^२) = १$ (i), जिसमें य और र उस भ्रमणशील बिन्दु के नियामक, निश्चित वृत्त की त्रिज्या त्र तथा निश्चित वृत्त के केन्द्र और निश्चित बिन्दु के मध्य की दूरी स है। अनुपात स / त्र को दीर्घवृत्त की eccentricity 'ई' कहते हैं जो सर्वदा इकाई से कम होती है। इससे उक्त समीकरण निम्न प्रकार भी बन जाता है-

$४ य^२ / त्र^२ + ४ र^२ / त्र^२ (१ - ई^२) = १$ (ii)

उक्त समीकरण में यदि त्र = २ अ और ब = अ $(१ - ई^२)^{१/२}$ रक्खा जाए तो यह समीकरण-

$४ य^२ / ४ अ^२ + ४ र^२ / ४ अ^२ (१ - ई^२) = १$

अथवा $य^२ / अ^२ + र^२ / अ^२ (१ - ई^२) = १$

अथवा $य^२ / अ^२ + र^२ / ब^२ = १$ (iii) हो जाएगा, जो वही समीकरण है जो नियामक ज्यामिति की वर्त्तमान पुस्तकों में हमें पढ़ाया गया था।* (टिप्पणी अगले पृष्ठ पर)

अतिपरवलय-

$४ य^२ / त्र^२ - ४ र^२ / (स^२ - त्र^२) = १$ (i), जिसमें य और र उस भ्रमणशील विन्दु के नियामक, स्थिर वृत्त की त्रिज्या त्र तथा निश्चित वृत्त के केन्द्र और निश्चित विन्दु के मध्य की दूरी स है। अनुपात स / त्र को अतिपरवलय की eccentricity 'ई' कहते हैं जो सर्वदा इकाई से अधिक होती है। इससे उक्त समीकरण निम्न प्रकार भी बन जाता है-

$$४ य^{२} / त्र^{२} - ४ र^{२} / त्र^{२} (ई^{२} - १) = १ \quad \text{(ii)}$$

उक्त समीकरण में यदि $त्र = २ अ$ और $ब = अ (ई^{२}-१)^{१/२}$ रक्खा जाए तो यह समीकरण-

$$४ य^{२} / ४ अ^{२} - ४ र^{२} / ४ अ^{२} (ई^{२}-१) = १$$

अथवा $य^{२} / अ^{२} - र^{२} / ब^{२} = १$ (iii) हो जाएगा जो वही समीकरण है जो नियामक ज्यामिति की वर्त्तमान पुस्तकों में हमें पढ़ाया गया था।*

इसी परिभाषा के अनुरूप हमने अतिपरवलय को खींचने की एक यान्त्रिक विधि भी आविष्कृत कर ली थी।*

ठोस नियामक ज्यामिति के अन्तर्गत दीर्घवृत्तक (अण्डाकार ठोस) और अतिपरवलयक के समीकरण भी हमने निम्नानुसार तब ज्ञात किए थे*-

दीर्घवृत्तक-

$$४ य^{२} / त्र^{२} + ४ र^{२} / (त्र^{२}-स^{२}) + ४ ल^{२} / (त्र^{२}-स^{२}) = १ \quad \text{(i)}$$

$$४ य^{२} / त्र^{२} + ४ र^{२} / त्र^{२} (१-ई^{२}) + ४ ल^{२} / (१-ई^{२}) = १ \quad \text{(ii)}$$

$$य^{२} / अ^{२} + र^{२} / ब^{२} + ल^{२} / ब^{२} = १ \quad \text{(iii)}$$

अतिपरवलयक-

$$४ य^{२} / त्र^{२} - ४ र^{२} / (स^{२}-त्र^{२}) - ४ ल^{२} / (स^{२}-त्र^{२}) = १ \quad \text{(i)}$$

$$४ य^{२} / त्र^{२} - ४ र^{२} / त्र^{२} (ई^{२}-१) - ४ ल^{२} / त्र^{२} (ई^{२}-१) = १ \quad \text{(ii)}$$

$$य^{२} / अ^{२} - र^{२} / ब^{२} - ल^{२} / ब^{२} = १ \quad \text{(iii)}$$

१९५९ में होशङ्गाबाद पहुँचने पर जब मुझे यह ज्ञात हुआ कि त्रिआयामी आकृतियों का गणित पहले से ही अस्तित्व में है और उस पर बाजार में अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, तब मैंने इस विषय में आगे माथापच्ची करना छोड़ दिया। तथापि हमने दीर्घवृत्त और अतिपरवलय के लिए जो नई परिभाषाएँ निर्धारित की थीं, वे अनोखी थीं और उनका उल्लेख हमें अभी तक भी गणित की पुस्तकों में कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ है।

अपनी इसी नई परिभाषा के अनुसार ही बाद में हमें यह प्रतिपादित करने में भी सफलता प्राप्त हुई कि पृथ्वी आदि ग्रह आकाश में सूर्य की परिक्रमा एक दीर्घवृत्ताकार पथ पर ही क्यों करते हैं? ऐसा करने के लिए हमें

---

* इनके विस्तृत विवरणों के लिए ***'विज्ञानलोक'*** मासिक पत्रिका, आगरा का अक्टूबर, १९६७ अङ्क और ***'एम॰ पी॰ सबार्डीनेट इंजीनियर्स मंथली जरनल,*** भोपाल का फरवरी, १९७१ अङ्क द्रष्टव्य हैं।

समान दूरी के स्थान पर समान बल को प्रतिस्थापित करना पड़ता है अर्थात् तब हम कहते हैं कि यदि सूर्य और पृथ्वी की मात्राएँ क्रमशः मा$_{१}$ और मा$_{२}$ हों तथा उनके मध्य की दूरी दू हो; तो इन दोनों के मध्य परस्पर का आकर्षण बल मा$_{१}$ X मा$_{२}$ / दू^{२} रूप में काम कर रहा होगा। ऐसी दशा में पृथ्वी सूर्य में न जा गिरे, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि इतना ही बल पृथ्वी पर विपरीत दिशा से भी लगे। चूँकि अन्तरिक्ष में यह बल पृथ्वी से सूर्य की दूरी के घटने- बढ़ने के साथ ही साथ घटता-बढ़ता भी रहता और उसकी दिशा में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, इसलिए विपरीत दिशा से लगने वाला यह बल भी तदनुरूप ही घटना-बढ़ना चाहिए और उसकी दिशा में भी निरन्तर परिवर्तन होते रहना चाहिए, जिसकी अन्तरिक्ष में किसी अन्य प्रकार से उपस्थिति की कल्पना तक नहीं की जा सकती, सिवाय इसके कि यह लगने वाला परिवर्तित दिशा से परिर्वनशील बल स्वयं सृष्टि के रचयिता परमेश्वर की ओर से ही लग रहा हो। इसीलिए तो वेद ने कहा है -

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

ऋ० १०/१२१/५

इससे जहाँ ईश्वर की विद्यमानता सिद्ध हो जाती है, वहीं यह भी कि परमात्मा ही लोक-लोकान्तरों का धारक और उनको निरन्तर गतिमान रखने वाला है।

इसी प्रकार मुझे यह भी स्पष्ट हो गया था कि हमारे सौर मण्डल में बाह्य अन्तरिक्ष से जो धूमकेतु आते हैं वे अतिपरवलय के मार्ग का ही अनुसरण करके क्यों आते हैं। तथा विभिन्न चन्द्रमा अपनी-अपनी पृथिवियों के दीर्घवृत्ताकारपथ में ही क्यों चक्कर लगाते हैं?

हमारे सूर्य (नक्षत्र); बुध, शुक्र, पृथ्वी, मङ्गल, बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो नामक नौ ग्रहों (कुछ वर्ष पूर्व वैज्ञानिकों द्वारा प्लूटो को ग्रहों की सूची से बाहर कर दिया गया है) और उनके उपग्रहों (चन्द्रमाओं) को मिलाकर हमारा जो सौर परिवार बनता है जिसमें सभी ग्रह सूर्य की दीर्घवृत्ताकार पथ में और उनके चन्द्रमा भी अपने-अपने ग्रहों की दीर्घवृत्ताकार पथ में ही निरन्तर परिक्रमा कर रहे हैं और तब तक करते भी रहेंगे जब तक कि कोई बाह्य बल अर्थात् परमात्मा ही उन्हें रोक न दे। हमारा यह सूर्य भी अन्तरिक्ष में स्थिर नहीं है, वह भी अपनी धुरी पर जहाँ हमारे २५ दिनों में एक चक्कर लगा लेता है, वहीं वह अपनी नीहारिका के केन्द्र का भी चक्कर

लगा रहा है। उसका ऐसा एक चक्कर हमारे २५,००,००,००० वर्षों में पूरा हो पाता है। इसी प्रकार सभी ग्रह जहाँ अपनी-अपनी धुरी पर घूम रहे हैं, वहीं वे सूर्य के चारों ओर भी चक्कर लगा रहे हैं। ग्रहों के चन्द्रमा भी दोनों प्रकार की ऐसी ही गतियाँ कर रहे हैं।

हमारी पृथ्वी का व्यास ७,९२७ मील है, जबकि सूर्य का व्यास ८,६४,००० मील है और वह पृथ्वी से लगभग १३,००,००० गुना बड़ा है। परन्तु वह इतना ही गुना भारी नहीं हैं क्योंकि वह गैसों से बना हुआ है। इसलिए वह हमारी पृथ्वी से मात्र ३,३२,००० गुना ही भारी है।

हमारी पृथ्वी के निकटवर्ती तीन ग्रह (बुध, शुक्र, मङ्गल) और दूरवर्ती ग्रह प्लूटो हमारी पृथ्वी-जैसे ही पार्थिव ग्रह हैं। जबकि बृहस्पति, शनि, यूरेनस और नेपच्यून दूसरे प्रकार के ग्रह हैं और काफी बड़े आकार के हैं। इसलिए इनका घनत्व भी पृथ्वी की अपेक्षा कम है, वैसे ही जैसे हमारे सूर्य का।

अब यह जिज्ञासा स्वाभाविकरूप से ही उत्पन्न होती है कि जैसे हमारी पृथ्वी पर जीवधारी (प्राणी) हैं, वैसे ही हमारे सौर मण्डल के सूर्य, अन्य ग्रहों और चन्द्रमाओं में भी वे हैं, अथवा नहीं?

हम इस पृथ्वी पर जिस प्रकार के प्राणधारी जीवों से परिचित हैं, उनका शरीर पञ्चतत्त्वों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) से बना हुआ होता है, जो अग्नि में जलकर भस्म हो जाता है। तब सूर्य में जहाँ जल और पृथ्वी तत्त्व हैं ही नहीं, वहाँ कोई जीवधारी कैसे पनप सकता है? क्योंकि इनके अभाव में वहाँ न वनस्पतियाँ ही होंगी, न अन्न और न रेत (वीर्य) ही, भले ही आत्मा (जीव) को अग्नि न जला सकती हो।

चन्द्रमा पर धरती का मानव जुलाई, १९६९ में होकर लौट आया है। वहाँ उसे तब किसी जीवन के चिह्न नहीं दिखाई दिए। हमारा **चन्द्रयान-१** भी वहाँ कुछ समय पूर्व पहुँच चुका है। उसने चन्द्रमा के दक्षिणी-ध्रुव पर जल की विद्यमानता का तो पता लगाया है, परन्तु वनस्पतियों और जीवधारियों का अब तक भी वहाँ पता नहीं चला है। हमारे पास के दो ग्रहों (बुध और शुक्र) जो हमारी पृथिवी की अपेक्षा से सूर्य के अधिक निकट हैं, का वातवरण भी ऐसा नहीं है, कि वहाँ जीवन होने की कोई सम्भावना हो। हमारा दूसरा निकटवर्ती ग्रह मङ्गल है, जिसका अपनी कीली पर झुकाव लगभग पृथ्वी जैसा ही है, इसलिए वहाँ का ऋतु-चक्र हमारी पृथ्वी से

मिलता-जुलता है। वहाँ की धरती के जो चित्र प्राप्त हुए हैं, उनमें से एक में एक मानवाकार मूर्ति भी दिखाई पड़ती है। कुछ लोगों ने इस धरती पर आने वाली उड़नतश्तरियों और एलियंस को भी देखे होने का दावा किया है। समझा जाता है कि वे मङ्गल से ही आती होंगी। इसलिए सम्भावना व्यक्त की जा रही है कि वहाँ हमारी जैसी ही कोई मानव-सभ्यता मौजूद होगी। इस विषय में विस्तृत और यथार्थ जानकारी तो तभी मिल सकेगी जब धरती से वहाँ जाने वाला कोई मानवसहित मङ्गलयान पहुँचेगा। मङ्गल ग्रह की एक तस्वीर में पानी की बूँदें भी दिखाई पड़ती हैं।

अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों ने हाल में ही दावा किया है कि उन्होंने पृथ्वी जैसे ही एक ग्रह को सौर मण्डल से बाहर ऐसे इलाके में देखा है, जहाँ जीवन की सम्भावनाएँ पहले से ही जताई जा रही हैं। जिस जगह पर इसे देखा गया है, उस जगह को 'गोल्डीलाक्स जोन' कहा जाता है। अमेरिकी संस्था नेशनल साइंस फाउण्डेशन की ताजा रिपोर्ट के अनुसार इस ग्रह की हमारे सौर मण्डल से दूरी अन्य ग्रहों की अपेक्षा कम है। इसके अलावा इसकी अपने-अपने उपग्रहों से दूरी भी न बहुत ज्यादा है और न बहुत कम है। हवाई स्थित डब्ल्यूएम कैक ऑब्जर्वेटरी में ११ साल तक अन्तरिक्ष के अवलोकन के बाद यह खोज हुई है।

हमारी पृथ्वी से खोजे गए इस ग्रह की दूरी २० प्रकाश वर्ष है अर्थात् लगभग १९,००,००,००,००,००,००० किमी। ढाई लाख किमी की अधिकतम गति से मानव निर्मित कोई अन्तरिक्ष यान वहाँ तक जाए, तो उसे वहाँ पहुँचने में ही ८७,००० वर्ष लगेंगे। यह ग्रह अपने तारे का ३७ दिनों में एक चक्कर लगा लेता है अर्थात् हमारे ३६५ दिनों के वर्ष की अपेक्षा उसका वर्षमान हमारे केवल ३७ दिनों का ही है। इस ग्रह का गुरुत्वाकर्षण बल इतना अधिक है कि यहाँ पर घर से निकलने के बाद हम या तो उसकी जमीन में ही चिपक जाएँगे या फिर अन्तरिक्ष में ही चक्करघिन्नी की तरह घूमते रह जाएँगे। हमारे चन्द्रमा की तरह यह ग्रह भी अपने तारे को अपना एक ही भाग दिखाता है। इसलिए तारे के सामने वाला उसका भाग तो बहुत गर्म और पीछे वाला भाग बहुत ठण्डा होगा।

बृहस्पति के चन्द्रमा **यूरोपा** के समुद्र में मछली के आकार के जीवों के बारे में जानकारी मिली है। अध्ययन से पता चला है कि वहाँ समुद्र में इतनी आक्सीजन है कि वह अतिसूक्ष्म जीवों के साथ ही साथ ३ करोड़ मछली के

आकार के जीवों को साँस लेने के लिए भी पर्याप्त होगी।

अभी तक हमारे सौर मण्डल के बाहर ३२ ग्रहों की खोज कर ली गई है। इनमें किस-किस में जीवन है, यह फिलहाल तो पता लगा पाना दुष्कर ही है।

वेद का शाब्दिक अर्थ ज्ञान है। इसलिए मानव ने जो ज्ञान इस धरती पर अपनी उत्पत्ति से लेकर अब तक प्राप्त किया है, वह सब ज्ञान = वेद ही है। भले ही उसको व्यक्त करने की भाषा कोई भी रही हो और उसे किसी भी व्यक्ति ने व्यक्त किया हो। लेकिन हम वैदिकधर्मी लोग रूढ अर्थों में जिसे वेद कहते हैं, वह २०,३७९ मन्त्रों के रूप में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में संगृहीत है। इन्हें उस-उस वेद की संहिताएँ कहा जाता है। वैदिकधर्मियों की ऐसी भी मान्यता है कि यह ज्ञान उन्हें चार ऋषियों के माध्यम से परमात्मा की ओर से ही प्राप्त हुआ है, जो एक प्रकार से परमात्मा के कानून के समान है, इसलिए वह सबके लिए आचरणीय है।

प्रश्न है कि क्या ये ही चार वेद इन्हीं शब्दों में और देवभाषा-संस्कृत में ही ऊपर वर्णित अन्य लोकों में भी इसी अनुक्रम में विद्यमान होंगे? अभी तक तो हमने वहाँ जीवन की सम्भावना को ही टटोला है, जो हमें हमारी अपनी पृथ्वी जैसी कहीं प्राप्त नहीं हुई है। सो जब अब तक हमें उनमें मनुष्य की विद्यमानता का ही कोई प्रमाण नहीं मिला है, तो वेदों की विद्यमानता की कल्पना करना तो एक मनमोदक ही होगी!

थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि हमारे निकटवर्ती ग्रह मङ्गल पर मानव हैं। इस मङ्गल ग्रह के विषय में वैज्ञानिकों ने अब तक जो जानकारी जुटाई है, वह इस प्रकार है-

मङ्गल ग्रह का रङ्ग लाल है। वह सूर्य से २२,८०,००,००० किमी की औसत दूरी पर घूम रहा है। इस ग्रह के भी सूर्य के चारों ओर एक दीर्घवृत्ताकार पथ पर ही घूमने से जब सूर्य, पृथ्वी और मङ्गल एक सीधी रेखा में आ जाते हैं और जब मङ्गल और हमारी पृथ्वी सूर्य के एक ही ओर होते हैं, तब वह हमारे सबसे निकट ५,५०,००,००० किमी की दूरी पर होता है। विपरीत अवस्था में यह दूरी बढ़कर ४०,००,००,००० किमी तक हो जाती है। ऐसी स्थिति १५ से १७ वर्षों में एक बार आती है। उस समय यह ग्रह हमारी पृथ्वी से सर्वाधिक स्पष्ट और बड़े आकार का दिखाई देता है। ऐसी स्थिति जब पिछली बार १९७१ में आई थी, तब वहाँ रूस और अमेरिका ने अपने-अपने कृत्रिम उपग्रह **मार्स-२** और **मार्स-३** तथा **मोनियर-३** भेजे थे जिनसे मङ्गल

के बारे में तब बहुत सारी जानकारी प्राप्त हुई थी। उस समय मार्स-३ का एक अवतरण-खण्ड भी इतिहास में पहली बार मङ्गल ग्रह पर उतारा गया था।

इस ग्रह के दो उपग्रह (अर्थात् चन्द्रमा) **फोबस** और **डेमोस** नाम के हैं। मङ्गल का व्यास ६,७८० किलोमीटर है जबकि हमारी पृथ्वी का व्यास १२,७४२ किमी है। इससे उसका आयतन पृथ्वी के आयतन का केवल सातवाँ भाग ही है। मङ्गल के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर बर्फीली टोपियाँ हैं। मङ्गल भी सूर्य की ओर उसी कोण पर झुका हुआ है जिस कोण (23 .5^{0}) पर हमारी पृथ्वी झुकी हुई है। इसलिए वहाँ भी हमारी जैसी ही ऋतुएँ (बसन्त, ग्रीष्म, शरद और शीत) होती हैं। परन्तु इन ऋतुओं की अवधि यहाँ से कुछ लम्बी होती है। मङ्गल ग्रह पर एक और मौसमी परिवर्तन होता है जिसके आधार पर वहाँ वनस्पतियों के होने का अनुमान लगाया जाता है। मङ्गल का वायुमण्डल बहुत ही विरल है जिससे उसकी सतह पर उतना ही दबाव रहता है जितना हमारी पृथ्वी से ३० किमी ऊपर जाने पर होता है। इसलिए मङ्गल की सतह पर मनुष्य अपने को ऐसा अनुभव करेगा, मानो वह पृथ्वी के ऊपर काफी ऊँचाई तक पहुँचे हुए गुब्बारे के खुले टोकरे में बैठा हुआ हो। चूँकि मङ्गल पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य से डेढ़ गुनी दूरी पर है, इसलिए वहाँ प्रकाश और गर्मी दो गुनी कम है।

मङ्गल अपनी धुरी पर हमारे २४ घण्टे ३७ मिनट में एक बार घूम लेता है, इसलिए उसका एक दिन हमारे २४ घण्टे के दिन से ३७ मिनट बड़ा होता है। मङ्गल अपनी कक्षा में भ्रमण करते हुए सूर्य की एक परिक्रमा हमारे 687 दिनों में लगा पाता है अर्थात् उसके अपने दिन के मान से 669.79 दिन में, जबकि हमारी पृथ्वी ऐसा चक्कर अपने दिन के मान से मात्र 365.24 दिन में ही लगा लेती है। इसलिए मङ्गल का एक वर्ष हमारे वर्षमान से 1.881 गुना बड़ा है। इसलिए जितने समय में हमारी पृथ्वी सूर्य के ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़) बार चक्कर लगा पाएगी, उतने समय में मङ्गल के मात्र २,२९,७८,७२,३४० ही चक्कर हो पाएँगे। इसलिए वहाँ के निवासियों की दृष्टि से सृष्टि की आयु २,२९,७८,७२,३४० वर्ष होगी, हमारी अपनी मान्यतानुसार ४,३२,००,००,००० वर्ष की नहीं, जैसा कि निम्न अथर्वमन्त्र से माना गया है-

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ।।

अथर्ववेद (८/२/२१)

पं० लेखराम आर्यपथिक ने अपने **'सृष्टि का इतिहास'** ग्रन्थ में इस मन्त्र को उद्धृत करते हुए सृष्टि की सम्पूर्ण आयु ४,३२,००,००,००० वर्ष होना प्रतिपादित किया है। प्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कार ने भी इस मन्त्र का ऐसा ही भाष्य किया है और चतुर्युगियों तथा विभिन्न युगों (सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग) की गणनाओं के आधार का प्रतिपादन किया है। ऐसी दशा में इस मन्त्र का मङ्गलवासियों के लिए क्या उपयोग होगा? इससे वे क्या समझेंगे और वे सृष्टि की आयु किस प्रकार निर्धारित करेंगे? यदि वहाँ के लोग इस मन्त्र का वैसा ही अर्थ करने लगेंगे, जैसा हम पृथ्वीवासी कर रहे हैं, तो फिर उनकी सृष्टि की आयु तो हमारी सृष्टि की आयु से 1.881 गुनी अधिक अर्थात् हमारे ८,१२,१६,००,००० वर्षों के तुल्य हो जाएगी और उनके मोक्षकाल की अवधि भी हमारे द्वारा मोक्षकाल की कल्पित अवधि से इसी प्रकार बढ़कर ५८,४७,५५,२०,००,००,००० वर्ष हो जाएगी। तब क्या उनकी कोई दूसरी ही सृष्टि होगी? ऐसी दशा में हमें यही मानना पड़ेगा कि हमारे ये वेद और उनके ऐसे वेदमन्त्र वहाँ नहीं होंगे।

हमारे सौर-मण्डल में मङ्गल का उपग्रह (चन्द्रमा) **फोबस** एकमात्र ऐसा उपग्रह है जो अपने ग्रह (मङ्गल) की एक परिक्रमा उस ग्रह के एक दिन से भी कम समय में अर्थात् हमारे मात्र ७ घण्टे ३९ मिनट में ही लगा लेता है। यहाँ धरती पर हमने अपने चन्द्रमा को धरती का एक चक्कर लगाने में लगने वाले समय को एक महिना मान रक्खा है। यदि मङ्गलवासी भी ऐसा ही मानें तो उनके एक दिन में 3.22 महिने होंगे। ऐसी उल्टी मान्यता मङ्गलवासियों को करनी होगी। तब वहाँ निम्न वेदमन्त्र का क्या होगा?

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः।।

ऋग्वेद (१/१६४/४८)

इस मन्त्र के आधार पर ही वर्ष के बारह महीनों और उसके ३६० दिनों (वा बिन्दु के चारों ओर ३६० अंशो) की कल्पना की गई हैं। हमारी मुक्ति की अवधि की गणना का आधार भी यही मन्त्र है। तभी तो उसकी अवधि एक परान्तकाल (अर्थात् ३६,००० बार सृष्टि और प्रलय हो जाने पर्यन्त) मानी गई है। इसलिए मङ्गलवासियों के लिए यह मन्त्र भी बेकार ही होगा।

इसी प्रकार मङ्गल पर तेरहवें लौंध मास की व्यवस्था करने वाला निम्न वेदमन्त्र भी निरर्थक होगा–

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते।।

ऋग्वेद (१/२५/८)

वहाँ हमारे वेद का यह मन्त्र भी व्याकरण की दृष्टि से अधूरा होगा–

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।। ऋग्वेद (१०/१९०/३)

क्योंकि वहाँ हमारी पृथ्वी की तरह एक ही चन्द्रमा नहीं अपितु दो हैं और किसी–किसी ग्रह पर तो कई–कई चन्द्रमा हैं।

अतः यही मानना तार्किक है कि वहाँ ऐसे वेदमन्त्र और हमारे ये वेद नहीं होंगे। यदि वहाँ के लोग भी हमारी पृथिवी जैसे ही बुद्धिमान होंगे तो उन्होंने अपने अनुभव और अनुसन्धान के आधार पर अपनी ही भाषा में अपने वेद बना लिए होंगे जिनसे वे अपना काम चलाते होंगे।

हमारे वेदों की भाषा भी कोई परमात्मा की भाषा नहीं है। जब परमात्मा को बोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है तो उसे किसी भाषा की क्या आवश्यकता है? उसे तो बस, मनुष्यों को प्रेरणा भर देनी है, तब वे तो स्वयं ही बोलने लग जाएँगे, क्योंकि अपने विचारों का आदान–प्रदान करने के लिए उनको भाषा की आवश्यकता है। सो मनुष्यों ने अब तक संसार में अपने लिए हजारों भाषाओं का आविष्कार कर लिया है, उनमें से एक हमारे वेदों की वैदिकभाषा भी है। जैसे उसकी प्रेरणा वा ईक्षण से यह सारा संसार अस्तित्व में आ गया है और गतिमान हो उठा है, वैसे ही उसकी प्रेरणा से मनुष्य को बोलना और अपने विचार प्रकट करना भी आ गया है। हम यह भी देखते हैं कि हमारी इस धरती पर ही चीन और अफ्रीका में कई ऐसी मानव–सभ्यताएँ पल्लवित और पुष्पित हुई हैं जिनका और उनके पूर्वजों का हमारे इन वेदों और उनकी शिक्षाओं से कभी कोई सरोकार ही नहीं रहा है। तब भी वे आज तक जीवित हैं और फलफूल रही हैं। इसलिए अन्य लोकवासियों की अपनी ही भाषा और उनका अपना ही वेद (= ज्ञान) होगा। हमारे ये चार वेद और उनकी वैदिकभाषा वहाँ नहीं होंगे।

ऐसे में जो यह कहा जाता है कि *'परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने सृष्टिरूप राज्य में एक सी है'*, उसका अभिप्राय मात्र इतना भर लिया जा सकता है कि **'ऋत'** वहाँ भी वैसा ही है, जैसा कि यहाँ है, पर **'सत्य'** सबका अलग–अलग है और इन दोनों को प्रकट करने की अपनी–अपनी भाषाएँ भी अलग–अलग हैं। यहाँ हम जानते हैं कि H_2O जल का रासायनिक सूत्र है जो हमें यह बताता है कि हाइड्रोजन के दो परमाणु और आक्सीजन

का एक परमाणु मिलकर जल की उत्पत्ति करते हैं। यह एक **'ऋत'** है जो धरती और मङ्गलवासियों के लिए भी एक जैसा ही है। परन्तु हमारा चन्द्रमा जितने समय में हमारी पृथ्वी का एक चक्कर लगा लेता है, वह एक महिना और हमारी पृथ्वी जितने समय में सूर्य की एक परिक्रमा कर लेती है, वह एक वर्ष होता है, केवल एक **'सत्य'** है, जो हम धरतीवासियों के लिए ही लागू होता है। इसलिए जो **ऋत** है वह तो अन्य लोकों में भी वहाँ के मनुष्यों की अपनी भाषा में प्रचलित होगा पर उनका अपना जो **सत्य** है, उसे हम इस धरती पर रहकर यथार्थरूप से नहीं जान सकते। इसलिए जब यह कहा जाता है कि *'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'*, तो ऐसी ही सत्यविद्याओं के प्रतिपादक हमारे अपने ये चार वेद अन्य लोकों में क्योंकर हो सकते हैं, क्योंकि वहाँ का सत्य तो उनका अपना ही होगा, हमारा यह सत्य उनके किसी काम का नहीं होगा। इसलिए हमारे वेदों के ऋत-प्रतिपादक मन्त्र ही अन्य ग्रहों पर वहाँ की उनकी भाषा में प्रचलित हो सकते हैं।

इस प्रकार हमने आरम्भ में अपने लिए चयनित चारों विषयों का भलीभाँति प्रतिपादन कर दिया है।

'आदित्यप्रकाश' की ग्राहकीयता

पिछले दो वर्षों से हम अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए एक अनियतकालिक प्रकाशन **'आदित्यप्रकाश'** के रूप में कर रहे हैं जिसकी अभी तक इस किरण सहित कुल छः किरणें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह **'आर्यसमाज प्रहरी'** के पूर्व के सभी ग्राहकों और कुछ आर्य विद्वानों तथा आर्य-पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों को भी निःशुल्क ही भेजा जाता रहा है।

अब इसे नियमितरूप से प्राप्त करके हमारे कर्णाटक के एक पाठक श्री वी॰ वी॰ वेंकटेश जी (बेंगळूरु) ने हमारे विना माँगे ही उसकी पञ्चम किरण और अगली कुछ किरणों के लिए १०० रु॰ (एक सौ रुपये) का एक धनादेश हमारे पास भेज दिया है। ऐसी स्थिति में हम चाहेंगे कि अन्य भी जो महानुभाव ऐसा करना चाहें, वे भी हमें १००-१०० रु॰ धनादेश द्वारा भेज दें। इससे मुझ अकेले पर पड़ रहे व्यय-भार में हमें कुछ मदद मिल सकेगी।

जो महानुभाव ऐसा करेंगे, उन्हें अभी तक प्रकाशित जो भी किरण प्राप्त नहीं हुई होगी, वह भी उनके लिखने पर उन्हें भेज दी जाएगी। साथ ही भविष्य में भी वह भेजी जाती रहेगी।

ध्यान रहे कि यह कोई नियतकालिक प्रकाशन नहीं है। आवश्यकतानुसार ही इसे अब तक हमारे द्वारा प्रकाशित किया जाता रहा है और आगे भी किया जाता रहेगा। **–आदित्यमुनि वानप्रस्थ, मो॰ 09425605823**

जादू-टोना का प्रेरक यह तान्त्रिक-अथर्ववेद

{ लेखक- पं॰ वी॰ उपेन्द्रराव }

जून, २०१० में गङ्गा प्रकाशन मन्दिर, भोपाल-द्वारा प्रकाशित उक्त पुस्तिका पर अब तक दो आर्यसमाजी-विद्वानोंद्वारा समीक्षात्मक (खण्डनात्मक)-प्रतिक्रियाएँ प्राप्त हुई हैं। यथा-

(१) श्री स्वामी अनन्त भारती, नई दिल्ली

(२) डॉ॰ जयदत्त उप्रेती, अलमोड़ा

दोनों विद्वानों ने यथापूर्व 'अथर्ववेद में जादू-टोना न होने'-सम्बन्धी-आर्यसमाजी-पक्ष को ही दुहराया है तथा पुस्तिकालेखक के विचारों को अमान्य किया है। डॉ॰ जयदत्त उप्रेती ने तन्त्र के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने विचार रखते हुए पुस्तिकालेखक के विचार भी जानने की इच्छा प्रकट की है।

मुझ-लेखक का मानना है कि प्रत्येक-व्यक्ति को अपनी बुद्धि के अनुसार विचार बनाने का, मानने का, व्यक्त करने का, तथा आवश्यकता के अनुसार, पूर्वविचारों में सुधार करने का, अथवा त्यागने का; यदि वह चाहे तो; अधिकार है। अतः मैं अपनी कृतियों के खण्डन में व्यक्त किये गये विचारों पर अथवा मुझ-व्यक्ति पर किये गये आक्षेपों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के पक्ष में नहीं हूँ। अतः सामान्यतः स्वयं इस उद्योग में मैं नहीं पड़ता।

परन्तु मेरे प्रकाशक श्री आदित्यमुनि जी वानप्रस्थ पूर्णतः आर्यसमाजी-प्रवृत्ति के हैं। अर्थात् वे लेखन, उसकी समीक्षा, फिर समीक्षा पर प्रतिक्रिया, पुनः समीक्षक का प्रतिवाद, फिर लेखक का प्रतिवाद इत्यादि-इत्यादि अनन्तधारा को प्रवाहित रखने के पक्ष-प्रवृत्ति में विश्वास रखते हैं। इन सब में व्यक्तिगत-आक्षेपों का पात्र प्रमुख होता है।

इस प्रयास में मेरे प्रकाशक की दिक्कत यह है कि जहाँ आर्यविद्वान् अपनी समीक्षाओं एवं प्रतिक्रियाओं को आर्यपत्रिकाओं में प्रकाशित भी करा देते हैं (क्योंकि उनके विचार आर्यसमाजी-मान्यताओं के पुष्टिकरण में एवं विरोधी-विचारों के खण्डन में होते हैं), वहाँ श्री आदित्यमुनि जी अपने विचारों को वा प्रतिक्रियाओं को उन आर्य-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराने में विफल रहते हैं।

यदि श्री आदित्यमुनि जी ने स्वयं के व्यय पर **'आदित्यप्रकाश'** के

माध्यम से विचारों व प्रतिक्रियाओं को प्रकाशित कर भी दिया, तो भी ये विचार व प्रतिक्रियाएँ कुछ ही आर्यविद्वानों तक ही पहुँचेंगे, अन्य आर्यजनता व सनातनी विद्वानों, व जनता तक नहीं।[१]

श्री आदित्यमुनि जी अपने प्रयास में पूर्णसफलता तभी प्राप्त कर पायेंगे, जब वे भी किसी नियतकालिक-मासिक वा त्रैमासिक-पत्रिका का संचालन करेंगे। और उसके कम-से-कम २००-३०० ग्राहक भी हों। अस्तु।

सम्प्रति, दोनों विद्वान्-समीक्षकों की प्रतिक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में **'जादू-टोना का प्रेरक यह तान्त्रिक अथर्ववेद'** के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। अतः वह प्रस्तुत है।

यह पुस्तिका मार्च, २०१० में मुम्बई में प्रस्तावित-अथर्ववेदगोष्ठी में प्रस्तुत होने के लिए संक्षिप्तरूप में लिखी गयी थी।

गोष्ठी के लिए जिन विषयों का प्रस्ताव किया गया था, उनमें विवादित-विषयों को ही इस पुस्तिका में विवेचित किया गया था, अन्य को नहीं। अतः पृष्ठ-६४ के आरम्भ में ही कह दिया गया था-

"इस प्रकार संक्षेप में अथर्ववेद के एक भाग की समीक्षा की गयी।"

उपर्युक्त दोनों विद्वानों ने अथर्ववेद में जादू-टोना न होने के बारे में अपने विचार व्यक्त किये हैं तथा साथ में डॉ॰ उप्रेती जी ने अपने पक्ष में पं॰ जयदेवशर्मा का उल्लेख भी किया है। सामान्यतः कई अन्य-आर्यविद्वान् भी इसी पक्ष में होंगे।

परन्तु इस पुस्तिका के प्रकाशित होने के २२ वर्ष पहले ही वाराणसी के डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी ने अथर्ववेद में जादू-टोना का होना स्वीकार किया है तथा वे अथर्ववेद को अर्वाचीन भी मानते हैं। देखिए उनका ग्रन्थ- **'अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन'**।

इस प्रकार आर्यसमाज में ही इस विषय में दो पक्ष पहले से ही चल रहे हैं। हमने नयी बात नहीं कही है। परन्तु हमारा प्रस्तुतीकरण नया है, जो सायणाचार्य-कौशिकसूत्र-ब्लूमफील्ड पर आधृत न होकर केवल अथर्वमन्त्रों पर आधृत है।

१- **'आदित्यप्रकाश'**- **'आर्यसमाज प्रहरी'** के अन्त तक बने रहे समस्त पाठकों को भेजा जाता रहा है जिसके अन्तिम अप्रैल-जून, २००८ के अङ्क की ४०० प्रतियाँ मुद्रित की गई थीं। **'आदित्यप्रकाश'** भी अभी तक इससे कम कभी नहीं छपा है और वह सभी आर्यविद्वानों तथा हमारे प्रकाशनों के ग्राहकों को निःशुल्क ही भेजा जाता रहा है। **-आदित्यमुनि वानप्रस्थ**

डॉ॰ द्विवेदी जी ने सामान्य-आर्यसमाजी-पक्ष के विरुद्ध अपना विचार क्यों बनाया? इसलिए, कि वे स्वतन्त्र-वेदाध्येता हैं तथा स्वतन्त्र-विचारक भी हैं। जो भी इस प्रकार स्वतन्त्रप्रवृत्ति को बनाये रखेगा, उसे हमारे विचार पसन्द आएँगे। अन्यथा, यदि वह दयानन्दसम्प्रदाय में आबद्ध होकर हमें देखेगा, तो उसे हम तिरस्कारयोग्य वा गालीयोग्य ही दीखेंगे। इसमें उसका कोई दोष नहीं।

आधुनिक जादूगर सरकार, जादूगर आनन्द आदि के प्रदर्शनों से (हाथ की सफाई से) अथर्ववेद के 'जादू' से कोई सम्बन्ध नहीं। अथर्ववेद में **'यातु'** शब्द का प्रयोग है, जो अन्यवेदों में भी है। **'यातु'** शब्द का अर्थ हिंसा है। हिंसाचारी को वेदों ने **'यातुधान'**, **'यातुधानी'** कहा है।

यदि मैं इस पुस्तिका को कन्नडभाषा में वा अँग्रेजी में लिखता, तो 'जादू' शब्द का प्रयोग न करके **'यातु'** शब्द का ही प्रयोग करता। 'जादू-टोना' शब्द का प्रयोग न करके अथर्ववेदीयपद- **'कृत्या'** व **'कृत्यापरिहरण'** का ही प्रयोग करता। अथर्वमन्त्र भी इन्हीं से सम्बन्धित हैं, न 'जादू' से और न ही 'टोना' से। हिन्दीभाषा में अरबी-फारसी-तुर्की (अर्थात् सम्मिलितरूप से 'उर्दू') शब्दों के बहुप्रयोगों के कारण लोग भ्रम में पड़कर वास्तविकता को समझने में विफल रहते हैं।

अथर्ववेद में 'जादू-टोना' नहीं है। बिलकुल सही है! परन्तु क्या कृत्याप्रयोग्रों का, कृत्या को मार डालने का तथा कृत्यापरिहरण का बहुत्र-उल्लेख अथर्ववेद तथा अन्य वेदों में नहीं है?

यदि मैं संस्कृतभाषा में यह पुस्तिका लिखता, तो दोनों विद्वानों को मेरे विरुद्ध कठोर-प्रतिक्रिया व्यक्त करने की गुंजाइश ही नहीं होती।

(भविष्य में यदि मैं अपने ग्रन्थ में वेदमन्त्रों का हिन्दी में पदार्थ लिखूँगा, तो आर्यविद्वानों को आपत्ति होगी, क्योंकि वे अर्थ दयानन्दसम्मतार्थ नहीं होंगे।[२] किन्तु यदि मैं संस्कृत में पदार्थ लिखूँगा, जो वैदिकशब्द के छायामात्र होंगे, तो क्या फिर भी आपत्ति होगी, क्योंकि वे भी दयानन्द-सम्मतार्थ नहीं होंगे? अस्तु।)

कृत्याप्रयोग व कृत्यापरिहरण की अथर्ववेदीयविधियाँ हमें स्वीकार्य नहीं हैं। अतः हमने इन विधियों का अपनी पुस्तिका में मज़ाक उड़ाया है।

२- ऐसा ग्रन्थ **'आज का वेद'** (The Veda of Today) नाम से ग्रन्थलेखकद्वारा लेखनाधीन है जिसमें चारों वेदों से लगभग १५०० प्रतिनिधिक चुने हुए एवं विषयानुसार वर्गीकृत मन्त्रों का सङ्कलन होगा। —आदित्यमुनि वानप्रस्थ

जिन्हें ये विधियाँ आज भी पसन्द हों, जैसे दोनों विद्वानों ने अपनी चाह दर्शायी है, तो हमें कोई आपत्ति नहीं। अतः हम इस विषय में प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते।

इसी प्रकार अथर्ववेदीय-चिकित्सापद्धतियाँ भी हमें स्वीकार्य नहीं हैं। चूँकि इस पुस्तिका की मुख्यविषयवस्तु चिकित्सापद्धतियाँ नहीं थी, अतः इस विषय में नहीं लिखा गया। फिर भी प्रसङ्गतः कुछ उल्लेख हो ही गया है। जिन्हें ये पद्धतियाँ आज भी पसन्द हों (अथर्ववेद के ईश्वरोक्त होने से!), जैसे दोनों विद्वानों ने अपनी चाह दर्शायी है, तो हमें इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। अतः हम इस विषय में भी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते।

दोनों विद्वानों ने अथर्ववेदीयहिंसा का समर्थन किया है। हमारे विचार से अथर्ववेदीयहिंसा जंगली व आदिमानव की असभ्यरीतियों की द्योतक है। अतः हम इस रीति का समर्थन नहीं करते।

दोनों विद्वानों को यह अधिकार है कि वे आदिमकृति-वेदों को अपनाने के साथ ही आदिम-सभ्यता, रीति-रिवाज व आदिमचिकित्सापद्धति एवं हिंसा को भी अपनाएँ। हमें कोई आपत्ति नहीं!

'तन्त्र' की परिभाषा किसी व किन्हीं शास्त्रों तक सीमित नहीं होती। तन्त्र तो ईश्वर के समान सर्वव्यापक है।

किसी व्यवस्था को, प्रबन्ध को, 'तन्त्र' कहा जाता है। अर्थात् System. सृष्टि एक व्यवस्था है। अतः वह सृष्टितन्त्र है। इसी प्रकार प्रकृतितन्त्र भी है और जीवतन्त्र भी है।

दार्शनिकदृष्टि से सोचें, तो वर्तमान की सृष्टि में तीन स्वतन्त्र-'तन्त्र' काम कर रहे हैं- ईश्वरतन्त्र, प्रकृतितन्त्र और जीवतन्त्र। इनमें से कौन कितना स्वतन्त्र है, यह विवाद का विषय है। वैज्ञानिक लोग इस विषय में अनुसन्धान करके कोई दिशा सूचित कर सकते हैं। परन्तु अभी तक वैज्ञानिक लोग इस क्षेत्र में सक्रिय न होने से, सम्प्रति इस क्षेत्र में ईश्वरभक्तों का ही बोलबाला व शासन है!

हमारे शरीर में ही कई तन्त्र काम कर रहे हैं। यथा- पाचनतन्त्र, नाडीतन्त्र, श्वसनतन्त्र आदि।

राज्यप्रशासन में- प्रशासनिकतन्त्र, पुलिसतन्त्र, सैनिकतन्त्र आदि।

तन्त्र, विस्तारयुक्त एक जाल होता है- Net, Network.

इस तन्त्र में रहकर जो काम करता है, वह सुरक्षित रहता है तथा प्रतिष्ठित भी होता है। परन्तु वह तन्त्र का, System का, गुलाम बन जाता

है।

भारत में जब ब्रिटिशराजतन्त्र विद्यमान था, तब अधिकांश भारतीयराजा सुरक्षा पाने की दृष्टि से, प्रतिष्ठा पाने की दृष्टि से, स्वेच्छया ब्रिटिशतन्त्र के गुलाम बन गये थे। जैसे ग्वालियर का सिन्धिया आदि राजे-महाराजे। परन्तु झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, जगदीशपुर के कुँवरसिंह आदि राजा व प्रजाओं ने ब्रिटिशतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह किया।

सन् १८५७ का सैनिकसंग्राम ब्रिटिशराजतन्त्र (System of British Governance) को भारत से उखाड़ने हेतु प्रवृत्त हुआ था।

शासकीय-कार्यालयों में जो काम अँग्रेजी हुकूमत के समय होता था, उसे लोग 'लालफीताशाही (Red Tapism)' कहते थे। अर्थात् नस्तियों को लाल फीते से बान्ध रखना, ताकि जनता का काम न हो अथवा देर से हो।

भारत के स्व-तन्त्र (Self governance) होने के पश्चात् ब्रिटिश-तन्त्र के इस 'विलम्ब-तन्त्र' को हटाने के निरन्तर-प्रयास किये गये। परिणामस्वरूप आज सर्वत्र कम्प्यूटर-तन्त्र (Internet) ने सभी प्रकार के पुराने तन्त्रों (Systems) को हटाकर कूड़े में फेंक दिया है। भविष्य में कौन-सा तन्त्र आएगा, कौन जाने?

तन्त्र के बारे में उपर्युक्तभूमिका लिखने का उद्देश्य यही है, कि यदि कोई पुराने तन्त्रों से, पुराने Systems से, पुराने विचारों से स्वेच्छया वा लोकैषणा से अपने को बन्धित रखना चाहे, तो वह कूड़ेदान में फेंक दिया जाएगा।

परिवर्तन चलसंसार का नियम है। जो इस नियम के अनुसार अपने को, अपने विचारों को, नहीं सुधारेगा, वह पुरातत्वसम्बन्धी (archeological) वस्तुओं की प्रदर्शनी में अपने को सम्मिलित पाएगा!

सम्प्रति, ऋग्वेद में देवताओं का तन्त्र (System) है। अतः वह भी एक तन्त्र है- 'ऋक्तन्त्र।' यजुर्वेद में यज्ञों का तन्त्र है। अतः वह 'यज्ञतन्त्र' है। सामवेद में त्रिदेवताओं का तन्त्र है। अतः वह 'सामतन्त्र' है।

अथर्ववेद तो तन्त्रों का महासागर है। यथा-

अध्यात्मतन्त्र, ब्रह्मचर्यतन्त्र, गृहस्थतन्त्र, व्रात्यतन्त्र, भैषज्यतन्त्र, विषघ्नतन्त्र, शत्रुदमनतन्त्र, राष्ट्ररक्षातन्त्र, संग्रामतन्त्र, विवाहतन्त्र, मृत्युतन्त्र, श्राद्धतन्त्र, भूमितन्त्र आदि।

अथर्ववेद को 'तान्त्रिकवेद' कहने का आधार यही है।

परन्तु 'तन्त्र' शब्द से डर वा बुरा आशय ग्रहण करने के पीछे

'सत्यार्थप्रकाश' है। फिर है **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'**।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वाममार्ग' का उल्लेख करके उसके 'तन्त्रग्रन्थों' के कुछ उद्धरण देकर उनका खण्डन किया। अब 'तन्त्र'-शब्द दर्शनशास्त्र, व्याकरण, वैद-जैसे आर्षग्रन्थों से निकलकर अनाचार फैलानेवाले दुष्टग्रन्थों का ही पहचान बन गया! मूर्तिपूजा का विधान, मूर्तिनिर्माणकला एवं देवस्थान का वास्तुशिल्प (architecture) भी 'तन्त्र' के अन्तर्गत आ गये। यज्ञसंस्था में वामाचारियों का प्रवेश हुआ। पुनः ये लोग वेदों के विद्वान् भी बन गये।

कला एवं साहित्य के प्रपञ्च में इनका प्रवेश हुआ। वैदिकवाङ्मय एवं गल्पसाहित्य को इन्होंने प्रभावित किया। योग एवं काम तथा चिकित्सा एवं राज्यशासन के क्षेत्रों में भी इनका वर्चस्व बढ़ा।

फिर ये लोग जनजीवन में घुलमिल गये। आज से २५०० वर्ष पूर्व का भारत, जिसे स्वर्णयुगवाला भारत कहा जाता है, वह तन्त्रयुगवाला भारत भी था। भारतीयसंस्कृति में वामाचार की संस्कृति विलीन होकर शुद्धरंग, श्वेतवर्ण, श्यामलवर्ण बन चुका था।

इसी समय धार्मिकवाङ्मय की रचना हुई। पुराणों व ब्राह्मणग्रन्थों की रचना हुई, क्योंकि वैदिककर्मकाण्ड ज़ोर पकड़ चुका था। ऐसी स्थिति में दक्षिणमार्ग(र्गी) कौन एवं वाममार्ग(र्गी) कौन, इस बात का निर्णय करना लगभग असम्भव था।

आर्यसमाजियों के पक्ष में वेद को अपौरुषेय कहने वाले स्वामी शङ्कराचार्य भी श्रौतयज्ञों में पशुवध के विरुद्ध नहीं थे। अहिंसा के समर्थक वैष्णवसन्त श्रीरामानुजाचार्य भी यज्ञ में पिष्टपशुवध के हामी थे।

तो क्या ये दोनों आचार्य वाममार्गी थे? नहीं! स्वामी शङ्कराचार्य एवं श्री रामानुजाचार्य का योग, वैराग्य एवं ब्रह्मचर्य उन्हें वाममार्गी-अनुयायी नहीं बनाते।

ऐसी मिश्रितसंस्कृति को शुद्ध करने के लिए श्री मध्वाचार्य ने पहल की। उन्होंने १८ पुराणों के तीन वर्ग किये- (१) वैष्णव, (२) शैव, (३) तामस। उन्होंने शैव एवं तामस पुराणों को त्याज्य घोषित किया। श्रौतयज्ञों से पशुवध के हटाने का कार्य को दुष्कर जानकर यज्ञों से ही अपने अनुयायियों को विरत किया। योगसाधना से सिद्धि पाकर मनुष्य अहंकारी हो जाता है, यह जानकर उन्होंने योग के स्थान पर भक्ति को प्रतिष्ठित किया। सात्विक-आहार-विहार को प्रश्रय देकर सभी प्रकार के हिंसाकर्मों को त्याज्य बताया।

ऋग्वेद के प्रथम ४० सूक्तों का संक्षिप्तभाष्य करके भी अपने अनुयायियों को वेदपाठी होने से रोका। (दक्षिणभारत के जो भी सस्वरवेदपाठी ब्राह्मणलोग हैं, वे सब स्वामी शङ्कराचार्य के स्मार्तसम्प्रदाय के ही हैं। ये लोग श्रौतयज्ञों में पशुवध के अध्वर्यु भी बनते हैं। इन्हें वेदार्थ करने का भी ज्ञान है। वेसा ही अर्थ जैसा वेद कहता है; न कि तोड़-मरोड़कर, ऊहित करके; जैसे आर्यविद्वान् करते हैं।) इसलिए, कि वेदों में हिंसाप्रचोदक-कर्मों का बार-बार उल्लेख है। फिर भी वे मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद के प्रबलपोषक थे।

तो क्या श्री मध्वाचार्य वाममार्ग के अनुयायी थे? नहीं! वे सच्चे, सात्विक-ब्राह्मण थे।अतः आज 'तन्त्र' की एक ही पहचान है-हिंसा! कायिक-वाचिक-मानसिक!!

'शत्रुवध!' कायिक-वाचिक-मानसिक!! ('शत्रु', अर्थात् वेदों पर ईमान न लानेवालों का, 'वध, अर्थात् तिरस्कार!)

स्वामी-दयानन्दसरस्वती ब्राह्मणकुल में जन्म लेकर भी, आचार्य-चाणक्य के समान, क्षात्रतेज से ओतप्रोत थे। अतः उन्हें वेद बहुत पसन्द आये! हिंसाकर्म क्षत्रिय का मुख्यगुण है। अतः अथर्ववेद भी उन्हें पसन्द क्यों नहीं आता? ९९ प्रतिशत आर्यसमाजी भी, चाहे वे वैश्य भी क्यों न हों, क्षत्रतेजवाले हैं। जो गिने-चुने ब्राह्मण आर्यसमाजी बन गये हों, वे भी संगदोष से क्षत्रियप्रवृत्ति के बन गये। फिर जो क्षत्रिय ही आर्यसमाज में आ गये हों, उनके लिए तो पौ-बारह ही है। बेचारा शूद्र आर्यसमाज में नहीं आ पाया, क्योंकि स्वामी जी ने उसका अनार्य, अनाड़ी, मूर्ख इत्यादि भूषणों से सज्जित करके स्वागत किया था!

अतः हिंसाप्रधान अथर्ववेद तान्त्रिककोटि में रखने-योग्य है, भले ही क्षात्रप्रवृत्ति के विद्वान् 'तन्त्र' शब्द से चिढ़ते हों और साथ ही 'तन्त्र' शब्द को वे शास्त्रवाची भी मानते हों!

अथर्ववेद के अन्यविषय, जैसे- अध्यात्म, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, सांमनस्य, शान्ति, भैषज्य, राष्ट्ररक्षा, विवाह, भूमिसूक्त, इत्यादि भी- इस वेद को तान्त्रिककोटि से उभार नहीं सकते। इसलिए, कि कालिदास, दण्डी, बाण इत्यादि कवियों के समान तान्त्रिकवैदिकविद्वान् भी ऐसे विषयों की रचना करने में समर्थ थे।

आज तीन धार्मिकपन्थ क्षात्रतेजोयुत हैं- इस्लाम, खालसा, आर्यसमाज! ■

दयानन्दवेदभाष्य की कुछ विसङ्गतियाँ

(समीक्षक- पं॰ वी॰ उपेन्द्रराव, भोपाल)

{हम पं॰ वी॰ उपेन्द्रराव द्वारा इङ्गित महर्षि दयानन्द के **यजुर्वेदभाष्य की कुछ विसङ्गतियाँ** इस अभिप्राय से प्रकाशित कर रहे हैं, ताकि ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा, अजमेर उन्हें अगले संस्करणों में यदि उचित समझे तो ठीक कर सके। अतीत में अन्य वैदिक विद्वानों ने भी परोपकारिणी सभा से ऐसा ही अनुरोध किया था, पर वह अब तक प्रायः अनसुना ही रहा है। इस विषय में कभी स्वामी सोम्यानन्द जी (मथुरा) ने भी मुझे लिखा था कि 'क्या आप महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य को व्याकरणानुसर अशुद्ध सिद्ध कर सकते हैं?' तब मैंने उन्हें लिखा था कि 'यह कार्य मैंने तो नहीं परन्तु पं॰ उपेन्द्रराव ने उनके पास उपलब्ध महर्षि दयानन्द के भाष्य-ग्रन्थों के पृष्ठों पर अवश्य कर रक्खा है जो अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।' अब इस प्रकार स्वामी सोम्यानन्द जी की इस इच्छा की पूर्ति भी हो रही है। -आदित्यमुनि}

(क) यजुर्वेद

(१) य॰ १/१- इषे त्वोर्जे त्वा-------------पशून्पाहि।।

पदार्थ में- 'मा (ईशत) ईष्टां समर्थो भवतु।'

अन्वय में- 'मेशत कदाचिन्मोत्पद्यताम्।'

टिप्पणी- पदार्थ से अन्वय में आने पर पदार्थ क्यों बदल गया?

(२) य॰ १/२७- *गायत्रेण त्वा छन्दसा----- पयस्वती च।।*

पदार्थ में- 'अयं मन्त्रः श॰ १/२/५/१-११ व्याख्यातः।'

टिप्पणी- श॰ १/२/५/१५-१६ में क्या लिखा है, इसे किसी ने पढ़ा भी है? अब पढ़ लीजिए-

"अभितोऽग्निमा ँ्साऽउन्नयति। योषा वै वेदिर्वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निम ँ्साऽउन्नयति।।१५।।

सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्। मध्ये स ँ् ह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमिव हि योषां प्रश ँ्सन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरा ँ्सा मध्ये संग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति।।१६।।

अर्थात्- वेदी की दो भुजाओं को आहवनीय अग्नि के दोनों ओर आगे तक ले जाते हैं। वेदी स्त्री है। अग्नि पुरुष है। स्त्री, पुरुष को दोनों भुजाओं में लपेटकर सोया करती है। इस प्रकार वेदी की दोनों भुजाओं को अग्नि के

दोनों ओर बढ़ाकर मानो वह उन स्त्री-पुरुषों का सन्तानोत्पत्ति के लिए सम्पर्क करा देता है।।१५।।

वेदी पश्चिम में चौड़ी, बीच में तंग और पूर्व में फिर चौड़ी होनी चाहिए। इसी प्रकार की स्त्री अच्छी समझी जाती है- नीचे का भाग भारी, कन्धों के निकट कुछ कम चौड़ी और क़मर पर पतली। इस प्रकार वह इसको देवों की दृष्टि में प्रिय बना देती है।।१६।।"

-पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्यायकृत शतपथब्राह्मण के आर्यभाषानुवाद से

यह तान्त्रिकपाठ ब्राह्मण ग्रन्थ का ही है। इस पर सायणभाष्य और भी क़माल का है! यह ब्राह्मण आर्यविद्वानों व भाष्यकारों का भी प्रिय है। आधुनिक Beauty Contest के लिए तान्त्रिकब्राह्मणों ने पहले ही मानदण्ड निर्धारित कर रखे हैं! यथा- ३३-२७-३६!

(ब्राह्मणग्रन्थों में निम्नशब्दों की परिभाषाएँ भी देखें-
जाया, पत्नी, पुरन्धि, योनि, योषा, स्त्री।)

(३) य० ३/६- *आयं गौः -----------प्रयन्त्स्वः।।*

टिप्पणी- **'अयम्'** पुल्लिङ्ग है। **'गौः'** स्त्रीलिङ्ग है। फिर **'गौः'** का अर्थ **'भूगोल'** कैसे हुआ?

(४) य० ३/६०- *त्र्यम्बकं यजामहे -----------मामुतः।।*

टिप्पणी- मन्त्र में- **'अमृतात्'** एवं **'अमुतः'** पद हैं।

पदार्थ में- '**(अमृतात्)** मोक्षसुखात्' एवं '**(अमृतः)** मोक्षाख्यात् परलोकात् परजन्मसुखफलाद् धर्माद्वा'।

'अमुतः' को **'अमृतः'** किसने किया? और तदनुसार गलत अर्थ क्यों किया?

(५) य० ५/८- *या तेऽअग्ने ऽयःशया-----------स्वाहा।।*

टिप्पणी- मन्त्र में आगे-**'या तेऽअग्ने हरिशया०'** आदि पाठ भी है। इसका पदपाठ, पदार्थ, अन्वय एवं भावार्थ कैसे छूट गया?

(हमारी संहिता में **हरिशया०** पाठ नहीं है। **-आदित्यमुनि**)

(६) य० ५/२३, २५- *रक्षोहणं वलगहनं---------- किरामि।।*
रक्षोहणो वो वलगहनः----------वैष्णवा स्थ।।

टिप्पणी- मन्त्रों में सर्वत्र **'वलगहन'** पाठ है। इसे **'बलगहन'** समझकर गलत भाष्य क्यों प्रस्तुत किया गया?

(७) य० ५/३८, ३९- *उरु विष्णो ---------- तिर स्वाहा।।*

देव सवितरेष -----------पाशान्मुच्ये ।।

शीर्षक- पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते

टिप्पणी- ये **'तौ'** कौन हैं, कहाँ बताया गया है?

(८) **य० ६/२८**- कार्षिरसि ----------- समोषोभिरोषधीः।।

टिप्पणी- मन्त्र में **'क्षित्या'** पद है। इसे पदपाठ, पदार्थ में **'अक्षित्यै'** कैसे बनाया गया? अन्वय एवं हिन्दी में-पदार्थ में भी ऐसा ही है।

(९) **य० ६/३२**- *इन्द्राय त्वा* ----------- रायस्पोषदे ।।

टिप्पणी- मन्त्र में **'इन्द्राय त्वादित्यवत'** पाठ भी है। इसका संस्कृत-पदार्थ कैसे छूट गया?

(१०) **य० ६/३५**- *मा भेर्मा* ----------- न सोमः।।

पदार्थः- **'(न) इव (सोमः)।।'**

टिप्पणी- यहाँ **'न'** का **'इव'** अर्थ कैसे सङ्गत होता है?

(११) **य० ८/१**- *उपयामगृहीतो* ---------*मा त्वा दभन्*।।

भावार्थ में- **'दश सन्तानानुत्पाद्य०'**

टिप्पणी- भावार्थ में उपर्युक्त-आदेश देने के लिए मन्त्र में कहाँ सङ्केत है? हर मनुष्य दश सन्तान उत्पन्न करे, तो संसार के लोग रहने के लिए कहाँ जाएँ?

(१२) **य० ८/८**- *उपयामगृहीतो* ---------देवेभ्यः।।

टिप्पणी- पदार्थ में **'(बृहदुक्षाय)'** पदोल्लेख छूट गया है।

(१३) **य० ८/५३**- *युवं तमिन्द्रापर्वता* ---------सुपोषाः पोषैः।।

पदार्थ में- **'(भूः) भूमौ (भुवः) अन्तरिक्षम् (स्वः)** सुखे'

टिप्पणी- **'अन्तरिक्षे'** नहीं होना चाहिए?

(१४) **य० ८/५५**- *इन्द्रश्च मरुतश्च* ---------*विष्णुर्नरन्धिषः*।।

टिप्पणी- संहिता में **'कयायो०'** पद है। भाष्य के मन्त्र, पदपाठ, पदार्थ आदि में **'कपाय'** हो गया है। ऐसा क्यों?

(१५) **य० ८/५६**- *प्रोह्यमाणः* ---------*अथर्वोपावह्रियमाणः*।।

पदार्थ में- *'प्रोह्यमाण इति पदं महीधरेण भ्रान्त्या पूर्वस्मिन् मन्त्रे पठितम्।''*

टिप्पणी- काण्वसंहिता में मा० य० ८/५५ वाला मन्त्र का० ९/३९-४० के बीच में है। **'नरन्धिषः'** के बाद **'प्रोह्यमाणः'** पद जोड़ दिया गया है। सभी शाखासंहिताओं के ज्ञान रखने से ऐसी भ्रान्ति सम्भव है। य० ८/५६

का आरम्भिक-भाग भी का० ९/४० के अन्त में है।

सामान्यटिप्पणियाँ

(१६) *मन्त्रशीर्षक*

टिप्पणी– शीर्षक, मन्त्र के विषय का होता है अथवा मन्त्र के कथन का। परन्तु मन्त्रशीर्षक में उस विषय को सूचित किया गया है, जो पदार्थ आदि में कल्पित है।

(१७) *पदार्थ*

टिप्पणी– प्रथम दश अध्यायों में प्रत्येकमन्त्रपदार्थ के अन्त में- ***'अयं मन्त्रः श(तपथब्राह्मणे)० व्याख्यातः'*** लिखकर ब्राह्मण का सन्दर्भ भी सूचित किया गया है। परन्तु शतपथब्राह्मण याज्ञिककर्मकाण्ड का प्रतिपादन करता है, जबकि दयानन्दभाष्य लौकिकव्यवहार का प्रतिपादन करता है। ऐसी विरोधावस्था में शतपथब्राह्मण के सन्दर्भों का उल्लेख समीचीन नहीं है। अथवा यह दिखाने के लिए हो– 'देखो, मैं कैसे लोकोपयोगी-भाष्य करता हूँ, जबकि शतपथब्राह्मण सड़े-गले कर्मकाण्ड की बात करता है।' जब इस विसङ्गति को किसी ने बताया होगा, तभी भष्यकार ने आगे दशवें अध्याय के अनन्तर शतपथब्राह्मण के सन्दर्भ देना बन्द कर दिया।

{शतपथब्राह्मण में जो कर्मकाण्ड विषयक विवरण दिए गए हैं, उन्हें बताने मात्र के लिए ही उसके सन्दर्भ दिए गए हैं। ताकि जो चाहें वे उन्हें वहाँ देख सकें। महर्षि दयानन्द ने तो अपना व्यवहारोपयोगी भाष्य ही किया है ताकि पिष्टपोषण न हो। यह बात उन्होंने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के आरम्भ में ही कह दी है।– **आदित्यमुनि**}

(१८) *अन्वय*

टिप्पणी– *अन्वय में*– **'हे मनुष्याः', 'यः', 'यत्', 'यथा', 'तथा'** आदि पदों को प्रविष्ट कराकर तद्नुसार अपनी ओर से उपदेशवाक्य भी जोड़ दिया गया है। इससे मन्त्र का वास्तविक-कथन भ्रष्ट हो गया है।

(१९) *भावार्थ*

टिप्पणी– भावार्थ में मन्त्राशय से बाहर जांकर अपनी ओर से उपदेशों की झड़ी लगा दी गयी है, मानो वेदभाष्य करना, अर्थात् वेद के विचार को प्रस्तुत करना, उद्देश्य न होकर अपने विचार को उपदेश के द्वारा संसार को सुनाने के लिए वेदमन्त्रों को निरा माध्यम वा उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया गया हो!

(२०) य० ११/१७– *भावार्थ– 'अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।*

***टिप्पणी*–** मन्त्र में कोई ऐसा अलङ्कार नहीं है। जबर्दस्ती उपमालङ्कार की कल्पना करके– 'हे विद्वन् ! त्वं यथा---- तथा विद्याव्यवहारानन्वातनुहि' जैसा उपदेश भाष्यकार की तरफ से दिया जा रहा है, न कि मन्त्र की तरफ से। मन्त्र में तो अग्नि के आधिदैविककार्य का उल्लेखमात्र है।

(२१) {य० ११/२७– *मन्त्रपाठः– 'त्वमग्ने द्युभिस्त्वामाशु०'*

***टिप्पणी*–** यह मन्त्र ऋ० २/१/१ से लिया गया है। ऋग्वेद से लिए गए सारे मन्त्रों का सन्दर्भनिर्देश करना चाहिए था। तथा पाठभेदादि–परिवर्तनों का भी। यदि भाष्यकार के समय यह ज़ानकारी तैयार नहीं की गयी थी वा उन्हें उपलब्ध नहीं थी, तो बाद के अथवा भविष्य के सम्पादकों वा भाष्यकारों को चाहिए कि वे यह जानकारी दिखायें। तब भाष्यकारों के भाष्य वास्तविक बनेंगे, मनमानी–कल्पनाओं के आधार पर नहीं, जैसे कि भाष्यकार, व उनके अनुयायी पं० जयदेशर्मा आदि के भाष्य बने हैं।}

(२२) {य० १२/३४– *पदार्थः– 'पालितव्यस्य राजस्य'*

***टिप्पणी*– पालितव्यस्म राज्ञः।** यह भाषा की अशुद्धि उपेक्षणीय (यास्कवाली 'उपेक्षा' नहीं) है। (यदि और कोई, जैसा कि मैं, ऐसी अशुद्धि करता तो, सम्प्रदायवादी–विद्वान् शिर पर विन्ध्यपर्वत उठा लेते!)}

(२३) य० १२/६२– *अन्वयः–* '(हे) **निर्ऋते देवि**! (त्वम्) **अस्मत् स्तेनस्य तस्करस्य** सम्बन्धिनं विहाय **अन्यम् इच्छ असुन्वन्तम् अयजमानम्** मा **इच्छ**। याम् **इत्याम् अनु इहि सा इत्या ते** अस्तु **नमः** च तस्यै **तुभ्यम् अस्तु**।।'

***टिप्पणी*–** मन्त्र के पदपाठ में जो पद उपलब्ध हैं, उन्हें स्थूलाक्षरित किया गया है।। आवश्यक–अध्याहृत–पदों को कोष्ठक में रखा गया है।

मन्त्र का आशय वह नहीं है, जो अन्वय में लिखा गया है। मन्त्र का वास्तविक–अन्वय निम्नानुसार हो सकता है–

'देवि निर्ऋते! (त्वम्) असुन्वन्तम् अयजमानम् इच्छ। स्तेनस्य तस्करस्य (च) इत्याम् अनु इहि। अस्मद् अन्यम् इच्छ। ते सा इत्या तुभ्यम् अस्तु।

मन्त्र के अनुसार निर्ऋति–देवी एक अवांछित,किन्तु आवश्यक–तत्त्व वा व्यक्ति है। इसलिए मन्त्रकर्ता ने उसे शाप भी दिये हैं तथा बेशर्मी से उससे प्रार्थनाएँ भी की हैं। देखिए– मन्त्रक्रमाङ्क ६२ से ६५ तक।

जिन मन्त्रों के कथन भाष्यकार को इष्ट नहीं, उन सब मन्त्रों के

आशय में परिवर्तन करके भाष्यकार अपने मनोनुकूल-आशय को भाष्य में व्यक्त कर देते हैं!

भाष्यकार के ऐसे भाष्य को उनके (अन्ध)भक्तों के सिवा अन्य कौन-सा विश्वविद्यालय अपनाएगा?

य० १२/६५ का देवता भाष्यकार के भाष्य में **'यजमान'** बतलाया गया है, जबकि **'निर्ऋति'** होना चाहिए। अन्यत्र भी ऐसा मनोनुकूल देवता-परिवर्तन किया गया है।

भाष्यकार के भाष्य को प्रचारित करने के लिए महर्षिदयानन्द-विश्वविद्यालय ही उपयुक्त है। अन्य नहीं।

(२४) य० १३/६-८- *मन्त्रपरिचय :- 'हिरण्यगर्भ ऋषिर्देवता च''*

टिप्पणी- ऋषि कोई भी हो, सभी तो कल्पित हैं। य० १३/५ का ऋषि **हिरण्यगर्भ** बतलाया गया है। वही इन तीनों मन्त्रों पर चढ़ गया! कहाँ ऋ० १०/१२१वें सूक्त का हिरण्यगर्भ-ऋषि? और कहाँ यहाँ सर्पों को **'नमः'** कहनेवाला हिरण्यगर्भ-ऋषि?

जब तीनों मन्त्रों में सर्पों के विचरण की बात कही गई है, तो देवता भी **'सर्प'** ही होना चाहिए, हिरण्यगर्भ नहीं। य० १३/८ में **'सूर्यस्य'** पद आया है। अतः वहाँ **'सूर्य'** देवता हो गया!

मन्त्रों के शीर्षकों में- **'मनुष्यैरत्र कथं वर्तितव्यमित्याह', 'पुनर्मनुष्यैः कण्टकाः कथं बाधनीया इत्याह'** कहा गया है।

ये मन्त्र ऐसा कुछ नहीं कह रहे हैं। मन्त्रकर्ता स्वयं कह व कर रहा है- **'तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः'**।

(२५) य० १३/४३- *पदपाठः- 'पूर्वचितिमिति पूर्वऽचितिम्'*

टिप्पणी- मन्त्र में **'पूर्वचित्तिं'** पाठ है। पदपाठ में, पदार्थ, अन्वय एवं हिन्दी पदार्थ में **'पूर्वचितिम्'** हो गया है। तदनुसार- **'पूर्वा चितिश्चयनं यस्य तम्'** अर्थ हो गया है।

(चतुर्थावृत्ति में केवल पदपाठ भर सुधारा गया है। अन्यत्र अब भी यथावत् ही है। **-आदित्यमुनि**)

(२६) य० १३/५२- *शीर्षक :- 'पुनः कीदृशा रक्ष्या हिंसनीयाश्चेत्याह'*

'फिर कैसे पशुओं की रक्षा करना और हनना चाहिए यह विषय अगले मन्त्र में कहा गया है।'

टिप्पणी- मन्त्र में **'पाहि'** व **'रक्षा'** पद ही हैं, हिंसा की कोई बात

ही नहीं है। किसी माँसाहारी (मुसलमान) कम्पोज़िटर (अक्षरसंयोजक) ने अथवा भाष्यकार के माँसाहारी शिष्य वा लेखक ने यह करतूत की है!

अथवा- पूर्व य० १३/५१वें का शीर्षक (य० १३/४९, ५० भी) य० १३/५२ पर भी असावधानी से चढ़ गया है। वास्तव में ऐसा शीर्षक देना ही नहीं चाहिए था। बायबल एवं कुरान में ऐसे हिंसापरक-निर्देश होते हैं।

(२७) **{य० १४/३०-** *पदपाठः- 'ऐताम्'*

टिप्पणी- **'वि। ऐताम्।'** यह मुद्रण दोष है। (चतुर्थावृत्ति में **'वि। एताम्।'** है। **-आदित्यमुनि)**

(२८) **{य० १४/३०-** *पदार्थः- '(शूद्रार्यौ) शूद्रश्चार्यो द्विजश्च तौ'*

भावार्थ- 'येनार्याः शूद्रा दस्यवश्च मनुष्याः सृष्टाः'

'जिसने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र डाकू मनुष्य भी रचे हैं।'

टिप्पणी- 'शूद्र + अर्य = शूद्रार्यौ है? वा शूद्र + आर्य = शूद्रार्यौ है?'

हिन्दी पदार्थ में- 'शूद्र और आर्य द्विज ये दोनों' कहकर स्पष्ट किया गया है।

भाष्यकार अन्यत्र भी (**सत्यार्थप्रकाश** में) शूद्र को अनार्य वा अनाड़ी कह चुके हैं। यहाँ और भी आगे बढ़कर **'शूद्र'** शब्द के साथ **'डाकू'** शब्द भी जोड़ दिया!

{वास्तव में डाकू का सम्बन्ध क्षत्रियवर्ण से होता है, शूद्रवर्ण से नहीं। मानवविज्ञान व इतिहास के अनुसार जो पहले डाकू होता है, वही बाद में डाकुओं का सरदार, फिर प्रजा का राजा (जैसे भूतपूर्व मध्यभारत का दुर्दान्त डाकू 'राजा' मानसिंह) आदि बनकर, ब्राह्मणों के सहयोग से सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन्हीं ब्राह्मणों ने राजा को **'नाविष्णुः पृथिवीपतिः'** (राजा ही नररूप में विष्णु है) कहा है। राजा की बड़ाई यजुर्वेद में है, तो मनुस्मृति ने बड़ाई करने की हदें ही पार कर दी हैं!}

पदार्थ में- **'द्विज'** शब्द जोड़ना भी गलत है।

य० १४/२८ में **'ब्रह्म'** पद आया है, जिसका अर्थ- **'परमेश्वरेण वेदः'** गलत किया गया है। य० १४/२९ में **'क्षत्रम्'** पद आया है। अतः य० १४/३० में **'शूद्र'** और **'अर्य'** (वैश्य) समझना चाहिए। (**'आर्य'** नहीं)।

परमेश्वर मनुष्यों की सृष्टि करता है; ब्राह्मण (ब्रह्म), क्षत्रिय (क्षत्र), शूद्र, वैश्य (अर्य), (और डाकू आदि) की नहीं। वेदमन्त्र गलत कह रहा है।

(२९) **य० १५/४-** *अन्वयः- 'हे मनुष्याः! यूयं परमप्रयत्नेन-----सुखाय*

साध्नुत।।'

टिप्पणी– मन्त्र में केवल छन्दों के नाम दिये गये हैं, और कुछ नहीं! भाष्यकार को जो अतिरिक्त कहना हो, उसे भावार्थ में कहना चाहिए। परन्तु वे तो भावार्थ को अपने उपदेश के लिए आरक्षित (Reserve) मानते हैं!

(३०) य॰ १५/६४– *मन्त्रपरिचयः– 'परमात्मा देवता'*

टिप्पणी– मन्त्र में परमात्मा का कोई लक्षण ही नहीं है। केवल **'परमेष्ठी'** पद है।

(३१) य॰ १५/६५– *भावार्थ के आगे– 'इति शिशिरर्त्तोर्वर्णनम्।'*

टिप्पणी– मन्त्र में शिशिर ऋतु का कोई वर्णन चहीं है।

(३२) य॰ १७/२– पदार्थः– '**(प्रयुतम्)** दश लक्षाणि, प्रयुतमिति कोटेरप्युपलक्षकम्'

टिप्पणी– संख्याशास्त्र में उपलक्षण कहकर भ्रान्ति उत्पन्न नहीं करनी चाहिए। मन्त्र में दशमलव-पद्धति का संकेत है।

भावार्थः– 'सहस्रं दशवारं संख्यातम् 'अयुतम्'	-(दस हजार)
'अयुतं दशवारं संख्यातम् 'नियुतम्'	-(लाख)
'नियुतं दशवारं संख्यातम् 'प्रयुतम्'	-(दस लाख)
'प्रयुतं दशवारं संख्यातम् 'कोटिः'	-(कोटि)

उपर्युक्तसंख्याएँ भावार्थ में सही दी गई हैं। किन्तु पदार्थ में '**(नियुतम्)** लक्षम्', '**(प्रयुतम्)** दश लक्षाणि' गलत कहा गया है।

(३३) य॰ १७/६७– *भावार्थः– 'यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युङ्क्ते तदाऽणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति ततोऽव्याहतगत्याभीष्टानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति नान्यथा।'*

टिप्पणी– मनुष्य पहले पैदल, घुड़सवारी, बैलगाड़ी, रथ आदि से यात्रा करता था। फिर साइकल, मोटरयान, रेल आदि से जाने लगा। जल में नाव, जहाज; तथा आकाश में विमानद्वारा यात्रा करने लगा। मन्त्र के भावार्थ में **'नान्यथा'** कहकर जो उपदेश दिया गया है, वह किस 'मनुष्य' (?) के लिए है? ऐसे असंगत व अस्वाभाविक-उपदेश देने का क्या औचित्य है?

यदि यह कहा जाए कि मन्त्र में ऐसा संकेत वा प्रेरणा है, तो भी वह सही नहीं है। मन्त्र में अग्नि की गति का उल्लेख है। अथवा यजमान की कल्पना की उड़ान का?

(३४) य॰ १७/७१– *भावार्थः– 'यो योगी तप-आदि-साधनैर्योगबलं*

प्राप्यासंख्यप्राणिशरीराणि प्रविश्यानेकनेत्रादिभिरङ्गैर्दर्शनादिकार्याणि कर्त्तुं शक्नोति। अनेकेषां पदार्थानां धनानां च स्वामी भवति सोऽस्माभिरवश्यं परिचरणीयः।'

टिप्पणी– उपर्युक्त-निर्देश के अनुसार चलनेवाला योगी मूर्ख वा पागल समझा जाएगा! दृष्टिदोष होने पर वह चश्मा पहनकर देख सकता है। असंख्य-प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके 'जानवर' बनकर देखने वा अन्य कार्य करने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर उस पागल-योगी को पदार्थों व धनों का स्वामी बनकर क्या करना?

ऐसे 'योगी' की सेवा भाष्यकार भले ही अवश्य करते रहें, तो हमें क्या आपत्ति हो सकती है?

मन्त्र के भावार्थ में **'अस्माभिः'** बहुवचन का पाठ है। अर्थात् संसार के लोगों को भी ज़बरदस्ती से सम्मिलित कर लिया गया है!

(३५) य० १८/४८– *पदार्थः-'(शूद्रेषु) सेवकेषु''*

टिप्पणी– सेवा करने वाले क्या **'शूद्र'** होते हैं? माता-पिता की सेवा करने वाली सन्तान, अपने शिशुओं की सेवा करने वाली माँ, कार्यालयों में शासन की सेवा करने वाले कर्मचारी (Government Servants), राजाज्ञा का पालन करने वाली प्रजा, और तथाकथित-धार्मिक-प्रवचनकर्ताओं की तन-मन-धन से सेवा करने वाले श्रद्धालु आदि-आदि क्या **'शूद्र'** होते हैं? आलंकारिकरूप से ऋग्वेद ने पाँवों के साथ **'शूद्र'** को जोड़ दिया। अर्थात् जो चलता है (वा लात मारता है) अथवा शरीर के खड़े रहने के लिए आधार है, वह 'शूद्र' है। इस प्रकार हम सब **'शूद्र'** हैं! दोनों पावों के अपाहिज को छोड़कर!

मनुमहाराज ने कह दिया कि शूद्र सब द्विजों की (free में) सेवा करे, तो भाष्यकार ने भी शूद्र को सेवक, मूर्ख और न जाने क्या-क्या तुच्छ मान लिया!!

यह सुखद है कि भाष्यकार के अनुयायी-लोग शूद्र को ऐसा (तुच्छ) नहीं मानते।

(३६) य० १९/१०– *शीर्षकः-'पुनः स्त्रीपुरुषौ कथं वर्त्तेयातामित्याह।।'*

टिप्पणी– मन्त्र में वन्यपशुओं व पक्षियों के नाम हैं। स्त्री-पुरुषों के वर्तन का संकेत तक नहीं है। भावार्थ में भाष्यकार ने जो उपदेश दिया है, तदनुसार मन्त्रशीर्षक बना दिया!

भाष्यकार वेदमन्त्रों का भाष्य कर रहे हैं? अथवा अपने उपदेशों का प्रचार-प्रसार?

अन्वयः- 'या विशूचिका व्याघ्रं वृकमुभौ पतत्रिणं श्येनं सिंह च हत्वा प्रजां रक्षति सेमं राजानमंहसः पातु।'

टिप्पणी– उपर्युक्त-अन्वय गलत है। सही मन्त्रान्वय ऐसा हो सकता है-

'या विशूचिका व्याघ्रं वृकं च उभौ, पतत्रिणं श्येनं सिंह (च) रक्षति, सा इमम् अंहसः पातु।'

(३७) य॰ १९/१२– *शीर्षकः-'मातापित्रपत्यानि परस्परं कथं वर्त्तेरन्नित्याह।।'*

टिप्पणी– न मन्त्र में और न ही भाष्य में उक्त शीर्षक का कोई संकेत है।

(३८) य॰ १९/७८, ७९– *पदार्थः-*

(अपिबत्) गृह्णीयात्; (प्रजापतिः) प्रजापालको जीवः।।७८।।

(अपिबत्) पिबेत्; (प्रजापतिः) प्रजायाः स्वामी।।७९।।'

टिप्पणी– दोनों मन्त्र अगल-बगल में हैं फिर भी अर्थ बदल दिया!

(३९) य॰ १९/८८– *भावार्थः-'स्त्रीपुरुषौ गर्भाधानसमये------'*

टिप्पणी– मन्त्र में **मुखम्, शिरः, जिह्वा, आसन्**(नि), **पायु, वालः, वस्तिः, शेपः** पद हैं। बस, भाष्यकार ने 'निषेकप्रस्थ' का उपदेश दे दिया!

लोग कहते हैं कि वेदों में अश्लीलता नहीं है और अश्लीलता दिमाग में होती है, तभी कुछ लोगों को वेदों में अश्लीलता दिखाई पड़ती है।

लोग सही कहते हैं!

(४०) य॰ २०/२५– *पदार्थः-'**(तम्)(लोकम्)** द्रष्टव्यम् (पुण्यम्) निष्पापं सुखस्वरूपम् (प्र) (ज्ञेषम्) जानीयाम् जानातेर्लेटि सिपि रूपम्।'*

टिप्पणी– भाष्यकार ने वेदभाष्य करने से पहले ही उसकी एक बहुत विशाल '**भूमिका**' लिख दी और लगभग १५० मन्त्रों का नमूना-मन्त्रभाष्य भी प्रस्तुत कर दिया। अब उन मन्त्रों का '**भूमिका**' में क्या अनुवाद है, और वेदभाष्य में क्या अनुवाद है, इसकी तुलना करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि भाष्यकार का स्वभाव है कि वे एक ही पद के अर्थ को बदलते जाते हैं, चाहे आवश्यक हो, या न हो।

सम्प्रति '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में उपर्युक्तवाक्य का क्या अनुवाद दिया गया है, उसे उद्धृत करते हैं (**राजप्रजाधर्मविषयः**) से-

'**(तं लोकम्)** तं देशं **(पुण्य)** पुण्ययुक्तं **(यज्ञेषम्)** यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः। '

'ऋभाभू' में उद्धृत-मन्त्रपाठ में **'यज्ञेष'** पाठ ही है। परन्तु यजुर्वेद संहिता में **'प्रज्ञेष'** पाठ है।

क्या पृथक्-लिपिकारों के लेखनदोष से ऐसा हो गया? यदि ऐसा हो भी गया हो, तो भाष्यकार उस अशुद्धि को क्यों न पकड़ सके? वेदभाष्य करने से पहले उन्होंने कितनी ही बार यजुर्वेद का पारायण किया होगा! (अपनी आत्मकथा में भाष्यकार स्वयं लिखते हैं- 'इस प्रकार १४चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद संहिता सम्पूर्ण और कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था।' **–आदित्यमुनि)**

चूँकि वे एक ही शब्द के विभिन्नस्थानों पर अलग-अलग अर्थ करने के आदी हैं तथा व्यत्ययसिद्धान्त की आड़ लेकर शब्दों के एवं क्रियापदों के वेदगत-स्वरूपों की परवाह नहीं करते हैं, अतः उन्हें याद नहीं रहता कि पहले उन्होंने क्या लिखा था?

उदाहरण के लिए देखिए- **'लोकम्'** का अर्थ, जो पहले धातुपाठानुसारी था, वह वेदभाष्य में रूढार्थवाला हो गया! क्रियापद पहले एकवचन में था। किन्तु वेदभाष्य में बहुवचनवाला हो गया!

लोगों को फिर भी आश्चर्य है कि भाष्यकार के वेदभाष्य को अभी तक विश्वविद्यालयों ने क्यों नहीं अपनाया!

(४१) य० २१/९- *पदार्थः-'* ***(प्र) (बाहवा)*** *बाहू इव। अत्र सुपां सुलुगित्याकारादेशः'*

टिप्पणी- तृतीयाविभक्ति-एकवचन में **'बाहुना'** पद वेद में **'बाहवा'** हो गया! तो भाष्यकार ने अर्थ में प्रथमाविभक्ति-द्विवचन का रूप कैसे ले लिया? व्यत्ययसिद्धान्त के कारण! क्या व्यत्यय सिद्धान्त-खिलौना है?

(४२) य० २३/२२- *पदार्थः-'* ***(यका)*** *यः -----सः'*

टिप्पणी- '(यका) या -----सा' होना चाहिए।

(४३) य० २३/६२- *पदार्थः-'* ***(ब्रह्मा)*** *चतुर्वेदवित्'*

टिप्पणी- यह अर्थ पुराण-परम्परानुसारी है। यहाँ पदपाठ एवं पदार्थ में **'ब्रह्म'** शब्द अधिक उपयुक्त है। वेदों में 'ब्रह्म' वा 'ब्रह्मा' का इस प्रकार का अर्थ नहीं बनता है।

(४४) य० २५/१२- *मन्त्रपाठादिः-* ***'सरया'***

 2278

टिप्पणी– संहितामन्त्र में **'रसया'** पाठ है। वेदभाष्य में सर्वत्र **'सरया'** हो गया है। किन्तु अर्थ **'रस'** का ही है। इतना बड़ा मुद्रणदोष!

(४५) य॰ २५/३६– *भावार्थः–'यदि केचिदश्वादीनामुपकारिणां पशूनां शुभानां पक्षिणां मांसाहारं कुर्युस्तर्हि तेभ्यो दण्डो यथापऽराधं दातव्य एव।'*

टिप्पणी– यह भाव मन्त्र के भाव के विरुद्ध है। मन्त्र का भाष्यकार का दिया गया अन्वय निम्न है–

'या ऊष्मण्याऽपिधानाऽऽसेचनानि पात्राणि यन्मांस्पचन्या उखाया नीक्षणं चरूणामङ्काः सूना यूष्णोऽश्वं परिभूषन्ति तानि स्वीकर्त्तव्यानि।'

टिप्पणी– वेदों में मांस की बातें हैं। अश्वमांस की बातें भी हैं! मांस को पकाने, रखने, सूँघने, {सुरभि(?) को} आदि की बातें भी हैं।

यदि भाष्यकार को मांस पसन्द नहीं था और मांस के लिए प्राणीवध भी इष्ट नहीं था, तो वेदों का उद्धार (?) करने के व्यर्थप्रयास में जुटे ही क्यों? महावीर–गौतमबुद्ध–जैसों के समान नये मार्ग को क्यों नहीं चलाया?

ऋग्वेद के दोनों अश्वसूक्तों को यजुर्वेद ने क्यों ग्रहण किया?

(४६) य॰ २७/४१– *भावार्थः–'ये मनुष्याः सुहृदां रक्षका असंख्यसुखप्रदा अनाथानां रक्षणे प्रवर्त्तन्ते तेऽसंख्यं धनं लभन्ते।'*

टिप्पणी– उपर्युक्त–भाव के लिए मन्त्र में कोई संकेत नहीं है। भावार्थ में अनाथ लोग कैसे आ गये?

असंख्यधन प्राप्त करने की यह कौन–सी रीति है? किस अर्थशास्त्र में है? भाष्यकार के मन में जो उपदेश कौन्धा, चमका, उसे किसी न किसी मन्त्र के भावार्थ में 'फिट' कर दिया।

(४७) य॰ २८/२३– *मन्त्रपाठादिः–***'अद्यत्त'**

टिप्पणी– 'अघत्त' होना चाहिए था। इस मन्त्र के भाष्य में सर्वत्र **'अद्यत्त'** हो गया है! यह मन्त्र आगे य॰ २८/४६ में पुनरुक्त है। वहाँ **'अघत्त'** पाठ सही उद्धृत हुआ है।

(४८) य॰ ३१/१५– *पदार्थः–'***(सप्त)** *गायत्र्यादीनि छन्दांसि* **(अस्य) (यज्ञस्य) (आसन्)** *सन्ति* **(परिधयः)** *परितः सर्वतः सूत्रवद्धीयन्ते ये ते'*

टिप्पणी– अब **'ऋभाभू'** में क्या कहा गया, वह नीचे उद्धृत है **(सृष्टिविद्याविषयः)** से–

'अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति।

'परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स

परिधिर्ज्ञेयः।

अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति।

'**समुद्र** एकः,

'तदुपरि त्रसरेणुसहितो **वायुर्द्वितीयः**,

'मेघमण्डलं तत्रस्थो **वायुस्तृतीयः**,

'**वृष्टिजलं** चतुर्थः,

'तदुपरि **वायुः** पञ्चमः,

'अत्यन्तसूक्ष्मो **धनञ्जय**ष्षष्ठः,

'**सूत्रात्मा** सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च।

'एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति। तस्मात् ते परिधयो विज्ञेयाः।'

इतना बड़ा विवरण भाष्यकार का ऊहित है अथवा किसी ग्रन्थ से उद्धृत है। (आधुनिक-विज्ञान ने भी कुछ आवरणों को हमारी इस पृथ्वी के चारों ओर आवेष्टित बताया है। बायबल-कुरान में भी सातवें आसमान पर खुदा का निवास बताया गया है।)

परन्तु भाष्यकार तो एक-एक के ऊपर सात-सात परिधियों की बात करते हैं। यह ऊहा की बात नहीं, खोज का विषय है।

भाष्यकार वेदभाष्य करते समय उपर्युक्त सारे विवरणों को भूलकर गायत्री आदि सात छन्दों में कैसे सिमट गये, यह प्रश्न है?

यदि भाष्यकार स्वयं ही वेदों से इस प्रकार भ्रान्तिजनक-सत्यविद्याओं को प्रकट करते जाएँ, तो उनके अनुयायी सत्यविद्या का नारा लगाने के सिवा और क्या कर पायेंगे?

अब दूसरी सत्यविद्या का उदाहरण लीजिए-

*पदार्थः- **(त्रिः)** त्रिवारम् **(सप्त)** एकविंशतिः प्रकृतिः[१], महत्तत्त्वं[२], अहंकारः[३], पञ्च स्थूलानि[८], पञ्च सूक्ष्मभूतानि[१३], पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि[१८], सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाश्चेत्येकविंशतिः[२१] **(समिधः)** समग्रीभूताः **(कृताः)** निष्पादिताः'*

अब '**ऋभाभू**' का कथन उद्धृत है-

'**(त्रिः सप्त समिधः कृताः)** एकविंशतिः पदार्थाः साम्रग्यस्य चास्ति।

'**प्रकृतिर्महत्, बुद्ध्याद्यन्तःकरणं, जीवश्चैका**' सामग्री



परमसूक्ष्मत्वात्।

दशेन्द्रियाणि[११]- **श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं** चेति।

'**शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः** पञ्चतन्मात्राः[१६]।

'**पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशम्** इति पञ्चभूतानि[११] च मिलित्वा दश भवन्ति।

'एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि।

एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम्।'

टिप्पणी– इस एक सत्यविद्या के दो रूपों को भाष्यकार ने (दो ग्रन्थों में) प्रदान किया है। यदि भाष्यकार पुरुषसूक्त का ऋग्वेदभाष्य एवं अथर्ववेदभाष्य भी कर जाते, तो और भी दो रूप मिलते। वे तो याद करते नहीं कि पहले उन्होंने क्या लिखा था? बस, इक्कीस की संख्या पूर्ण होनी चाहिए!

फजीती उनके अन्धानुयायी–सम्प्रदायवादियों की होती है कि वे किस ग्रन्थ के आधार पर अपना प्रवचन दें?

परन्तु सन्तोष का विषय है कि स्वयं भाष्यकार ने इस सत्यविद्या की खोज में अपनी असहायता भी स्वीकार कर ली है, भावार्थ में–

'हे मनुष्याः! यूयमिममनेकविधकल्पितपरिध्यादिसामग्रीयुक्तं मानसं यज्ञं कृत्वा पूर्णमीश्वरं विज्ञाय सर्वाणि प्रयोजनानि साध्नुत।'

इससे यह भी सिद्ध होता है कि भाष्यकार की अन्य–खोजें भी कल्पनाधारित हैं।

(४९) य० ३३/५२– *मन्त्रपाठः–'विश्वे नो देवाऽअवसा गमन्तु'*

(पदपाठः)– विश्वे। नः। देवाः। अवसा। आ। गमन्तु।'

टिप्पणी– पदपाठ में **'आ'** उपसर्ग का प्रवेश अवाञ्छनीय है। भाष्य में भी इसलिए **'आ'** का प्रवेश हो गया है। यह मन्त्र ऋ० १०/३५/१३ से उद्धृत है।

(५०) य० ३३/८२– *पदार्थः–'यः शेवधिं निधिं पाति रक्षति धर्मादिकार्ये करे च न व्येति''*

टिप्पणी– उपर्युक्तवाक्य में **'न'** गलत आ गया है।

(५१) य० ३४/५– *अन्वयः– '----यस्मिन्नथर्वाणः----'*

टिप्पणी– मन्त्र में **'अथर्वाणः'** पद नहीं है। तीन वेद के नाम जहाँ भी आए, उनके साथ अथर्ववेद को जोड़ना भाष्यकार का हठ है।

(५२) {य० ३८/१७–*टिप्पणी*– इस मन्त्र में दो मन्त्र सन्निविष्ट हैं तथा तीन सन्दर्भ हैं। यथा–

अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः।
अभि श्रवोभिः पृथिवीम्।।

(ऋ० ३/५९/७, ऋषिः– विश्वामित्रः, देवता– मित्रः, छन्दः– गायत्री)

य० ३८/१७ में उपर्युक्तमन्त्र को पहले उद्धृत करते हुए निम्न पाठभेद किये गये हैं–

'अभीमं महिमा', 'विप्रो', 'उत श्रवसा'

आगे य० ३८/१७ में पूर्व य० ११/३७ को पुनरुक्त किया गया है। यथा–

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्।।

(य० ११/३७; ऋषिः– **प्रस्कण्वः**, देवता– **अग्निः**, छन्दः– **निचृदार्षीबृहती)**

य० ११/३७ के संहितामन्त्र में **'वि'** पृथक् है। पदपाठ में भी **'वि'** पृथक् है। परन्तु भाष्यवाले मन्त्र में **'वि', 'धूममग्ने'** के साथ मिलने के कारण पदार्थ बनाया गया–

'(विधूमम्) विगतमलम्'

य० ३८/१७ में एक पाठभेद भी है– **'रोचस्व'**।

य० ११/३७ में पदार्थ था– **'(शोचस्व) पवित्रो भव'**

य० ३८/१७ में– **'विसृज'** सही पढ़ा गया है, अन्वय में।

य० ३८/१७ में दो मन्त्रों को मिलाने से **निचृदतिशक्वरी** छन्द बन गया तथा ऋषि हुआ **दीर्घतमा**, जबकि देवता **अग्नि** ही है।

य० ११/३७ भी स्वतन्त्र न होकर ऋ० १/३६/९ का उद्धरण है, जहाँ ऋषि– **घौर**, देवता– **अग्नि** एवं छन्द **प्रगाथ** हैं।

{भाष्यकार से ऐसी चूक य० ३२/७ का भाष्य करते हुए भी हुई है, जहाँ वे पाठमात्र के लिए उद्दिष्ट दो मन्त्रों **'आपो ह यद्बृहतीः०** (य० २७/२५)' और **'यश्चिदापः** (य० २७/२६)' का संकेत नहीं कर पाए हैं, जबकि ऐसे अन्य नौ मन्त्रों के लिए उनके भाष्य में सर्वत्र टीप दी हुई मिलती

है। –आदित्यमुनि}

(५३) य० ३९/१३– *भावार्थ के बाद :– 'अत्राऽन्त्येष्टिकर्मवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेदितव्यम्।।'*

टिप्पणी– यह गलत है। कोई संगति नहीं है।

भाष्यकार ने यजुर्वेद के प्रत्येक-अध्याय के अन्त में इस तरह की अर्थसंगति का उल्लेख किया है। इसी प्रकार अपने ऋग्वेदभाष्य में भी प्रत्येक-सूक्त के अन्त में पूर्वसूक्तार्थ के साथ अर्थसंगति का उल्लेख किया है।

बहुत-स्थानों पर तो मन्त्र-मन्त्र के साथ भी संगति नहीं बनती है। अतः देवता को बदलना पड़ता है (आवश्यक होने पर ऋषि और छन्द को भी)।

संगति स्थापित करने का प्रयास करना अतीव-मस्तिष्कव्यायाम का विषय बन जाता है, क्योंकि इस प्रयास में कल्पना अधिक होने से प्रामाणिकता घायल होती है।

अर्थसंगति की बात को बार-बार कहने के लिए भाष्यकार क्यों मजबूर हुए?

वेदेतर धर्मग्रन्थों की समीक्षा करते हुए उनमें विद्यमान-त्रुटियों, यथा- पुनरुक्तियों, विसंगतियों, सृष्टिविरुद्ध-विषयों आदि पर भाष्यकार खण्डनात्मक आलोचना करते थे तथा उन धर्मग्रन्थों के अनुयायियों को सलाह देते थे कि वे वेदमत में लौटकर आयें, क्योंकि वेदमत में, अर्थात् वेदों में, कोई त्रुटि नहीं है।

इसलिए भाष्यकार को पहले अपना विशिष्टशैली का वेदभाष्य तैयार करना पड़ा। संगतिस्थापन की बात बार-बार कहनी पड़ी। पुनरुक्तमन्त्रों का समग्रप्रपंच उनके सामने नहीं खुला था। अतः जहाँ दीख पड़ा, वहाँ अलग-अर्थ कर दिया और इसी को अपना स्वभाव भी बना लिया। (उनके भोले अनुयायियों को यही कार्य 'महान्' प्रतीत हुआ!)

(५४) य० ४०/१७– *भावार्थ के बाद :– '--- एतदर्थस्य पूर्वाऽध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम्।।'*

टिप्पणी– यह कथन भी असमीचीन है।

य० ३९/१३ के अन्त में कहा गया था–

'अत्राऽन्त्येष्टिकर्मवर्णनादेतदर्थस्य०'

अब ४०वें अध्याय के विषयों का वर्णन करते हुए कहा गया–

'अत्रेश्वरगुणवर्णनमधर्मत्यागोपदेशः सर्वदा सत्कर्मानुष्ठानावश्यकत्वम् अधर्माचरणनिन्दा ---- सर्वेभ्यो नामभ्य ओ३मित्यस्य प्राधान्यप्रतिपादनं च कृतम् ---'

अन्त्येष्टिकर्मवर्णन के साथ ४०वें अध्याय के विभिन्न–दार्शनिक–विषयों की क्या संगति है, सिवा य० ४०/१५ वें मन्त्र- **'वायुरनिलममृतमथेदं०'** के?

इस प्रकार संक्षेप में यजुर्वेदभाष्य में विद्यमान–कुछ विसंगतियों पर प्रकाश डाला गया है। मुद्रण की कुछ–अशुद्धियों को चतुर्थावृत्ति में सुधार दिये जाने के कारण उन्हें यहाँ नहीं दिखाया गया है। इस समीक्षात्मककार्य के लिए परोपकाणीसभा, अजमेरद्वारा प्रकाशित–संस्करण–तृतीय, २०१५ वि० (प्रथमभाग), २०१७ वि० (द्वितीयभाग), २०१८ वि० (तृतीयभाग–द्वितीयावृत्ति) एवं २०१८ वि० (चतुर्थभाग) को आधार बनाया गया है।

ऋग्वेद

भाष्यकार ने ऋग्वेद के ५६४९ मन्त्रों का (ऋ० ७/६१/२ तक) भाष्य किया है। इस भाष्य में विद्यमान–विसंगतियों की चर्चा आगे कभी की जाएगी।

आधुनिक–वैदिकविद्वानों में कई अपने व्यक्तित्व एवं विचारों को व्यक्त करने के लिए वेदभाष्य करने का प्रयास करते हैं। अतः उनके वेदभाष्यों की नीरक्षीरविवेक से समीक्षा करके क्षीरं का ग्रहण एवं नीर का त्याग करना चाहिए।

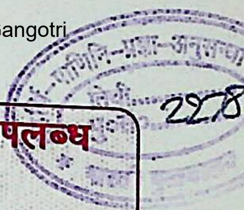
पाठकों से एक विनम्र निवेदन

कृपया इस पुस्तिका को आद्योपान्त पढ़कर इसकी प्राप्ति–सूचना हमें एक पोस्टकार्ड पत्र द्वारा अवश्य दें ताकि इसकी आपको प्राप्ति के विषय में हम सुनिश्चित हो सकें। ऐसा हुए विना हम भविष्य में इस प्रकाशन की अन्य किरणें आपको भेजने में असमर्थ रहेंगे।

निवेदक,

आदित्यमुनि वानप्रस्थ

एच–१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर, कोलार रोड, **भोपाल–४६२०४२**



गङ्गा प्रकाशन मन्दिर में विक्रयार्थ उपलब्ध साहित्य

क्र० पुस्तक का नाम	आकार	पृ० सं०	मूल्य (रु०)
१- यजुर्वेद का [illegible]	२३x३६/१६	७२०(सजिल्द)	३५० रु०
२- जादू-टोना का प्रेरक ग्रन्थ [illegible] अथर्ववेद	२३x३६/१६	८४	४० रु०
३- चतुर्वेदविदों से शत [illegible] प्रश्न	२३x३६/१६	६८	३५ रु०
४- ऋषि दयानन्द का [illegible] जन्मचरित्र	२३x३६/१६	४१६(सजिल्द)	२०० रु०
५- ऋषि दयानन्द के अज्ञात जीवन की समस्या और उसका समाधान	२३x३६/१६	७६	२५ रु०*
६- मित्र-मञ्जूषा	२३x३६/१६	२४० (सजिल्द)	१०० रु०
७- आदित्यप्रकाश (१से ६किरण)	२३x३६/१६		१०० रु०*
८- आर्यसेवक शताब्दी स्मारिका	२०x३०/८	५००	१०० रु०*
९-वर्ण-व्यवस्था बनाम जाति-व्यवस्था सत्यान्वेषण स्मारिका	२०x३०/८	२८८	४५ रु०*
१०-धर्मनिरपेक्षता बनाम धर्म-सापेक्षिता सत्यान्वेषण स्मारिका	२३x३६/१६	३६०	१०० रु०*
११- **'आर्यसमाज प्रहरी'** का धर्म-निरपेक्षता बनाम धर्म-सापेक्षिता राष्ट्रीय विार संगोष्ठी विशेषाङ्क	२३x३६/१६	३००	४५ रु०*

इन पुस्तकों को प्राप्त करने के लिए उनकी कुल कीमत की कम से कम ८० प्रतिशत राशि (५०० रु० तक की राशि मनीआर्डर से ही भेजें। इससे अधिक राशि) हमारे (=**आदित्यपाल सिंह के**) **स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया** के बचत खाते क्र० **10064526230** अथवा **केनरा बैंक** के बचत खाता क्र० **2626101013409** में जमा करके हमें निम्न पते पर सूचित करें। **-आदित्यमुनि वानप्रस्थ**

एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर, कोलार रोड; **भोपाल-४६२०४२**

** इन पुस्तकों पर अब कोई छूट उपलब्ध नहीं है।*

छपी–पुस्तक (Printed-Book)

प्रति,

आद-०६
आचार्या सूर्यदेवी चतुर्वेदा
जिज्ञासु स्मारक पाणिनि कन्या महाविद्यालय
महमूरगंज, तुलसीपुर
वाराणसी- २२१०१० (उ॰ प्र॰)



प्रेषक:-
इं॰ आदित्यमुनि वानप्रस्थ
एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर, कोलार रोड
भोपाल-४६२०४२ (म॰ प्र॰) Mob. 09425605823